मुक्ति

(बंधन से बोध की यात्रा)

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली कथा संग्रह ‘मुक्ति’ का हिंदी अनुवाद)

मुक्ति

मैथिली कथा संग्रह

जगदीश प्रसाद मण्डल

मुक्ति

हिंदी अनुवाद

डॉ. विनीत कुमार लाल दास

मुक्ति

(बंधन से बोध की यात्रा)

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

डॉ. विनीत कुमार लाल दास

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

Mukti is the Hindi translation of a Maithili short story collection by Shri Jagdish Prasad Mandal, translated by Dr. Vineet Kumar Lal Das. The volume brings together ten carefully selected stories that reflect Mandal's deep engagement with rural life, ethical tensions, and evolving social consciousness. Rooted in lived reality, these narratives capture the textures of village life while probing the inner conflicts that shape both individual and collective destinies.

Jagdish Prasad Mandal is a nationally and internationally acclaimed writer, widely recognized for his significant literary contributions. He has received numerous prestigious honors, including the Videha Samman, the Tagore Literature Award (2011), the Sahitya Akademi Award (2021), the Yatri Chetna Samman, and the Rajkamal Samman.

Since 2000, he has remained consistently active in creative writing, producing approximately 1,550 works, now compiled into 131 published volumes. His sustained creativity, disciplined literary practice, and deep social engagement have established him as a major voice in contemporary Indian literature.

Marked by psychological insight and restrained narrative craftsmanship, Mukti balances tradition and transition. The stories subtly echo modern and postmodern sensibilities, questioning inherited norms, reexamining identity, and foregrounding individual agency within shifting socio-cultural contexts. They explore contemporary dilemmas such as social fragmentation, moral uncertainty, and generational conflict, while sustaining a humane and ethically grounded vision. Here, lived experience becomes reflective literature, and literature emerges as a space for moral inquiry and awakening.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-83-0
Price: 299/-
Copyright: © Publisher

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source: https://fonts.google.com

All rights to this book are reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, or generated in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

उन अनदेखे जीवनों को, जो बंधनों के भीतर रहकर भी अपने भीतर आत्मबोध की ज्योति जलाए रखते हैं और उस मानवीय चेतना को, जो संघर्षों के पार जाकर मुक्ति का अर्थ रचती है।

अनुक्रम

प्रस्तावना

साभार

सामयिक लफंगा

विषम समय में सम कर्म

मुक्ति

गर्त बनी धारा के भीतर

मरने की राह पर

अग्रणी लोग

द्वैधता

निरंकुश लोग

अनुभवी लोगों की वाणी

मनुष्य का मूल्य

प्रस्तावना

☰

श्रीमान जगदीश प्रसाद मण्डल की रचनाओं से मेरा पहला परिचय किसी नियोजित अध्ययन के क्रम में नहीं, एक जिज्ञासु पाठक के रूप में हुआ। प्रारम्भ से ही यह अनुभूति हुई कि यहाँ कहानी केवल कहानीनक तक सीमित नहीं है; यह जीवन के भीतर धड़कती हुई एक सजीव अनुभूति के रूप में उपस्थित है। इनकी रचनाओं को पढ़ते हुए ऐसा लगा जैसे शब्द किसी बाहरी संरचना के नहीं, जीये गए जीवन के स्वाभाविक विस्तार के रूप में प्रकट हो रहे हों। इसी आत्मीय स्पर्श ने मुझे उनके लेखन के निकट लाया और अनुवादक के रूप में इनके कहानी-संसार से जुड़ने की प्रेरणा दी।

समकालीन मैथिली साहित्य में श्रीमान् जगदीश प्रसाद मण्डल का रचनात्मक अवदान अत्यंत विशिष्ट और प्रभावशाली है। इनकी लेखनी जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों से संचालित होती है। यही कारण है कि इनकी कहानीएँ पाठकों के मन पर गहरी छाप छोड़ती हैं। इनकी प्रगतिशील दृष्टि, सामाजिक सरोकारों के प्रति सजगता तथा जीवन के यथार्थ को गहराई से समझने की क्षमता इन्हें विशिष्ट बनाती है। इनकी रचनाशक्ति में तीव्रता, सतत प्रवाह और ऐसी सर्जनात्मक ऊर्जा विद्यमान है जो पाठकों को आरंभ से अंत तक बाँधे रखती है। इस ऊर्जा को सहज ही एक अद्भुत लेखकीय गति के रूप में अनुभव किया जा सकता है जो निरंतर सक्रिय और जीवंत है।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मण्डल जी की रचनाशक्ति को इनकी कहानीओं के साथ-साथ इनकी लेखन-निरंतरता के आलोक में

भी देखा जाना चाहिए। विशेषतः सन् 2000 के बाद इनकी सृजन-गति उल्लेखनीय रूप से तीव्र रही है। अल्प समयावधि में लगभग सोलह सौ रचनाओं तथा एक सौ पैंतीस के आसपास पुस्तकों का सृजन इनकी असाधारण लेखकीय क्षमता को स्पष्ट करता है। यह संख्या केवल परिश्रम का परिणाम नहीं बल्कि इनके भीतर सक्रिय सृजन-ऊर्जा का सशक्त प्रमाण है। इनकी लेखनी सतत प्रवाहमान रही है। इसमें गति है, ऊर्जा है और अनुभव की गहराई है। इस संदर्भ में इनकी लेखन-शक्ति को 'सुपर सोनिक राइटिंग पावर' कहना एक सार्थक और प्रभावी अभिव्यक्ति प्रतीत होता है।

इनकी कहानियों का मूल आधार जीवन की गहन अनुभूति है। जीवन को देखना, समझना और उसे शब्दों में ढालना इनकी लेखकीय प्रकृति का स्वाभाविक विस्तार है। यदि कोई लेखक अपनी अनुभूतियों से स्वयं को अलग कर ले तो उसकी रचनाओं में जीवंतता का अभाव हो जाता है- इस सत्य को इनकी रचनाएँ बार-बार प्रमाणित करती हैं। जीवन के भीतर से निकला वचन ही लोक-स्मृति में स्थायी स्थान बना पाता है। इनकी कहानी-भाषा में यह अनुभवजन्य सत्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इनकी रचनाओं में विचार और अनुभूति का ऐसा संतुलन है जो पाठक को केवल कहानी तक सीमित नहीं रखता बल्कि उसे गहरे चिंतन की ओर प्रेरित करता है।

लेखन का वास्तविक आधार अनुभव होता है। जब रचनाकार अपने जीवनानुभवों से जुड़ा रहता है तभी उसकी अभिव्यक्ति में जीवन की सजीवता बनी रहती है। अनुभव से कटकर किया गया लेखन शब्दों का मात्र बाहरी विन्यास बनकर रह जाता है जिसमें संवेदना की ऊष्मा नहीं होती। मण्डल जी की रचनाएँ इस तथ्य को गहराई से स्थापित करती हैं कि जो वचन जीवन के भीतर से उद्भूत होता है, वही स्थायित्व प्राप्त करता है। यही कारण है कि इनके कथन अनेक स्थानों पर केवल कहानियों का अंग नहीं रह जाते बल्कि जीवन-सूत्र के रूप में उभरते हैं। ऐसे अनुभवजन्य वचन समय के साथ लोक-स्मृति में रच-बस जाते हैं और कहावतों का रूप ले लेते

हैं। इस दृष्टि से इनका लेखन केवल कहानी-सृजन नहीं बल्कि जीवन-दर्शन की सशक्त अभिव्यक्ति बन जाता है जहाँ अनुभव ही अभिव्यक्ति का मूल स्रोत और उसकी प्रामाणिकता का आधार होता है।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह 'मुक्ति' इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि इसमें संकलित सभी कहानीएँ जीवन के विविध आयामों को समेटे हुए हैं। यह संग्रह मात्र घटनाओं का क्रम नहीं प्रस्तुत करता बल्कि एक समेकित जीवन-दृष्टि को सामने लाता है जिसमें समय, समाज, संबंध और मनुष्य के आंतरिक संघर्ष का व्यापक चित्र उभरता है। 'सामयिक लफंगा' समय के विकृत स्वरूप और इसकी विडंबनाओं को उद्घाटित करती है। 'विषम समय में सम कर्म' कठिन परिस्थितियों में संतुलित दृष्टि की आवश्यकता को रेखांकित करती है। 'मुक्ति' मनुष्य की आंतरिक स्वतंत्रता की खोज को सामने लाती है। 'गर्त बनी धारा के भीतर' और 'मरने की राह पर' उन क्षणों को चित्रित करती हैं, जब मनुष्य अस्तित्वगत संकट से जूझता है। 'अग्रणी लोग' सामाजिक नेतृत्व के स्वरूप पर विचार करती है। 'द्वैधता' मानवीय संबंधों में उपस्थित अंतर्द्वंद्व को उजागर करती है। 'निरंकुश लोग' आधुनिक जीवन के उस पक्ष को सामने लाती है जहाँ मनुष्य स्वतंत्र होते हुए भी भीतर से विखंडित दिखाई देता है। 'अनुभवी लोगों की वाणी' अनुभवजन्य ज्ञान की गरिमा स्थापित करती है और 'मनुष्य का मूल्य' जीवन के मूल प्रश्नों को केंद्र में लाती है।

इस संग्रह की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्रत्येक कहानी-पाठक के सामने प्रश्नों का एक व्यापक संसार उपस्थित करती है। जीवन के प्रवाह में चलते हुए मनुष्य अनेक बार ठहरकर स्वयं से पूछता है- क्या वह केवल दिन व्यतीत कर रहा है या अपने अस्तित्व का अर्थ भी खोज रहा है? क्या उसका मूल्य उसके ज्ञान और उपलब्धियों से निर्धारित होता है या उसकी संवेदना और व्यवहार से? क्या आधुनिक जीवन की तीव्र गति उसे आगे ले जा रही है या भीतर ही भीतर उसे विखंडित कर रही है? ऐसे ही प्रश्न इस कहानी-संग्रह की भूमि में बार-बार उभरते हैं और पाठक को अपने

भीतर उतरने के लिए आमंत्रित करते हैं। जहाँ उत्तर किसी बाहरी घोषणा में नहीं बल्कि अनुभव और आत्मबोध की प्रक्रिया में क्रमशः आकार लेते हैं।

इनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सहजता और स्वाभाविकता है। लोकजीवन से निकट संबंध के कारण इनकी भाषा में ऐसी जीवंतता है जो कथ्य को प्रामाणिक बनाती है। संवादों में जीवन की गति स्पष्ट दिखाई देती है और वर्णनों में ऐसा प्रवाह है जो पाठक को कहानी के भीतर खींच ले जाता है। भाषा और कथ्य का यह सामंजस्य इनकी रचनात्मक परिपक्वता का प्रमाण है। इनकी रचनाओं में अनुभवजन्य कथन अनेक स्थानों पर इस प्रकार उपस्थित होते हैं जैसे सोने पर सुहागा हो जो कहानी के प्रभाव को और अधिक गहरा कर देता है।

इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद करते समय मेरा प्रमुख प्रयास यह रहा है कि मूल मैथिली कहानीओं की संवेदना, इनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और उनमें निहित लोकजीवन की सहज गंध हिंदी में अक्षुण्ण रूप से बनी रहे। मैथिली से हिंदी में रूपांतरण केवल भाषा-परिवर्तन नहीं है; यह एक संपूर्ण सांस्कृतिक परिवेश का स्थानांतरण है जिसमें जीवन-शैली, सोच-विचार, संबंधों की बारीकियाँ और लोक-अनुभव की गहराई समाहित रहती है। इन कहानीओं में निहित ग्राम्यजीवन की सादगी, मानवीय व्यवहार की आत्मीयता और अनुभव की ऊष्मा को केवल शब्दों के स्तर पर रूपांतरित कर देना पर्याप्त नहीं होता; उसके भाव-संरचनात्मक स्वरूप को सुरक्षित रखना भी उतना ही आवश्यक है। इस दृष्टि से अनुवाद की प्रक्रिया मेरे लिए शब्दानुवाद से अधिक भावानुवाद की रही है, जहाँ प्रत्येक कहानी के भीतर स्पंदित जीवन को हिंदी के पाठक उसी निकटता के साथ अनुभव कर सके, जैसी वह मूल भाषा में संभव है।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस संग्रह की कहानियाँ पाठक को केवल कहानी-आनंद तक सीमित नहीं रखतीं बल्कि उसे आत्मचिंतन की दिशा में प्रेरित करती हैं। यह संग्रह जीवन को देखने का एक अलग दृष्टिकोण प्रदान करता है जिसमें संवेदना, विचार और अनुभव का समन्वय है। इन कहानियों

के माध्यम से पाठक अपने परिवेश, अपने संबंधों और अपने भीतर के संसार को नए रूप में देख पायेंगे।

मुझे विश्वास है कि 'मुक्ति' कहानी-संग्रह हिंदी पाठकों के बीच एक सार्थक स्थान बनाएगा। यह संग्रह भाषा की सीमाओं से आगे बढ़कर मानवीय अनुभवों की उस साझा भूमि तक पहुँचता है जहाँ हर पाठक अपने जीवन का कुछ अंश पहचान सकता है। यह पुस्तक पाठक को केवल कहानी नहीं देती बल्कि उसे सोचने, समझने और अपने जीवन को नए सिरे से देखने की प्रेरणा भी प्रदान करती है।

अंततः, 'मुक्ति' केवल एक कहानी-संग्रह के रूप में नहीं बल्कि जीवन के अर्थ की सतत खोज के रूप में पाठक के भीतर अपना स्थायी स्थान का निर्माण करेगी।

प्रस्तुत संग्रह की प्रत्येक कहानी अपने भीतर एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि को समेटे हुए है। इन कहानियों को केवल घटनाओं के स्तर पर नहीं बल्कि उनके अंतर्निहित विचार, संवेदना और उद्देश्य के साथ समझना अधिक महत्त्वपूर्ण है। निम्नलिखित विश्लेषण में संग्रह की प्रत्येक कहानी के कथ्य और उसके निहितार्थ को संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिससे पाठक इन रचनाओं की अंतर्धारा को अधिक स्पष्ट रूप से समझ सके।

सामयिक लफंगा (समैया लुच्चा)

यह कहानी एक साधारण ग्रामीण परिवेश में घटित होती है जहाँ सुचित चाचा अपने दैनिक जीवन के बीच गहन विचारों में डूबे रहते हैं। वे प्रकृति, जीवन, भय, धर्म और मनुष्य के आचरण पर निरंतर मनन करते हैं। पत्नी चित्रलेखा के साथ उनका संवाद एक सामान्य प्रसंग–चाय की स्वाद से आरम्भ होता है और धीरे-धीरे मानवीय प्रवृत्तियों की ओर बढ़ता है। चाय की विभिन्न स्वादों और पीने वालों की अलग-अलग प्रवृत्तियों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि एक ही वस्तु को प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से ग्रहण करता है।

इसी बीच उचितलाल गाँव की एक घटना की सूचना देता है जहाँ आपसी विवाद और मारपीट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रसंग से समाज में बढ़ती अस्थिरता और जिम्मेदारी के अभाव का संकेत मिलता है। विचारों के क्रम में सुचित चाचा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समय और मनुष्य के बीच एक ऐसी प्रवृत्ति सक्रिय रहती है जो परिस्थितियों के अनुसार उसके व्यवहार को प्रभावित करती है। वे इस प्रवृत्ति को 'सामयिक लफंगा' के रूप में परिभाषित करते हैं।

यह कहानी मनुष्य के भीतर चल रहे द्वंद्व और सामाजिक जीवन की जटिलताओं को गहराई से उजागर करती है। कहानीकार संकेत करते हैं कि व्यक्ति का आचरण उसके भीतर के संस्कार, भय और लालसा से प्रभावित होता है। इसी कारण वह समय के साथ अपना सिद्धांत बदलता रहता है और जिम्मेदारी से दूर होने लगता है। 'सामयिक लफंगा' एक ऐसी मानसिक अवस्था का रूप ले लेता है जो सामाजिक अव्यवस्था को जन्म देती है। यह कहानी पाठक को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती है और यह समझ विकसित करती है कि स्थिर और संतुलित जीवन के लिए आंतरिक सजगता तथा नैतिक चेतना आवश्यक है।

विषम समय में सम कर्म (उकड़ू समयमे सुकड़ू काज)

यह कहानी रमेश नामक एक मेडिकल छात्र के अनुभवों के माध्यम से जीवन, कर्तव्य और सामाजिक परंपराओं के बीच संतुलन की खोज को प्रस्तुत करती है। नाना की मृत्यु का समाचार पाकर रमेश भीतर से व्याकुल हो उठता है किन्तु वह तत्काल भावावेश में बहने के बजाय अपने कर्तव्यों को व्यवस्थित करने का प्रयास करता है। वह पहली बार मृत्यु से जुड़ी क्रियाओं को समझने और उनमें भाग लेने की स्थिति में आता है।

मामा मोहितलाल के साथ संवाद के माध्यम से मृत्यु-संस्कारों की प्रक्रिया, सामाजिक व्यवहार और पारिवारिक उत्तरदायित्व क्रमशः स्पष्ट होते जाते हैं। रमेश के भीतर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सामाजिक आस्था के बीच एक स्वाभाविक द्वंद्व उभरता है किन्तु वह परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को

ढालते हुए उचित समय पर अपनी सहभागिता सुनिश्चित करता है। अंततः 'विषम' और 'सम' काम की अवधारणा सामने आती है जो जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों और इनकी जटिलताओं को समझाने का माध्यम बनती है।

यह कहानी जीवन के उन क्षणों को पकड़ती है जब मनुष्य भावनात्मक, सामाजिक और व्यावहारिक स्तरों पर एक साथ सक्रिय रहता है। कहानीकार यह स्पष्ट करते हैं कि हर कार्य का अपना समय और स्वरूप होता है। कुछ कार्य सहज होते हैं जबकि कुछ विरले और अधिक जटिल होते हैं जो धैर्य, समझ और संतुलन की माँग करते हैं। 'विषम समय' ऐसे ही कठिन और असहज क्षणों का संकेत देता है जबकि 'सम काम' उस संयमित और व्यवस्थित व्यवहार का रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य उन परिस्थितियों को साधता है।

कहानी का उद्देश्य यह दिखाना है कि जीवन की जटिलताओं से बचने के बजाय उन्हें समझदारी और संतुलन के साथ निभाना ही वास्तविक परिपक्वता है। यह कहानी पाठक को यह बोध कराती है कि संवेदना और कर्तव्य के बीच संतुलन ही जीवन को सार्थक बनाता है।

मुक्ति

यह कहानी 'बाल' और 'बाल कहानी' की अवधारणा से आरम्भ होकर धीरे-धीरे जीवन, समाज और मानवीय चेतना के व्यापक प्रश्नों तक पहुँचती है। प्रारम्भ में कहानीकार आयु और बौद्धिक परिपक्वता के संबंध पर विचार करते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि केवल उम्र से व्यक्ति की समझ निर्धारित नहीं होती।

इसी संदर्भ में रवीन्द्र का प्रवेश होता है जो एक शोधार्थी युवक है और जीवन के अनेक पक्षों पर गहन विचार कर रहा है। वह विवाह, समाज, परंपरा, राग-द्वेष, विज्ञान और आस्था के बीच अपने लिए संतुलित मार्ग खोजने का प्रयास करता है। समाज की विसंगतियाँ, जैसे असमान वैवाहिक संबंध, जाति और दहेज की समस्या तथा आधुनिक जीवन की विडम्बनाएँ,

उसके विचारों को और अधिक जटिल बना देती हैं।

इन विचारों के बीच रवीन्द्र का मन जीवन के मूल प्रश्न, मुक्ति की ओर मुड़ता है। इसी खोज में वह जगधारी चाचा के पास पहुँचता है जो अनुभव और संतुलित दृष्टि के प्रतीक हैं। उनके साथ संवाद के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि मुक्ति केवल दार्शनिक कल्पना नहीं बल्कि जीवन को सहज, स्वतंत्र और श्रममूलक ढंग से जीने की अवस्था है। जगधारी चाचा के अनुसार, मुक्ति का अर्थ है अनावश्यक चिंता से मुक्त होकर अपने श्रम और स्वभाव के अनुरूप जीवन जीना।

यह कहानी मनुष्य के भीतर चल रहे बौद्धिक और भावनात्मक संघर्ष को प्रभावी रूप से उजागर करती है। कहानीकार संकेत देते हैं कि आधुनिक जीवन में विचारों की अधिकता व्यक्ति को उलझा देती है जबकि समाधान एक सरल और संतुलित जीवन-दृष्टि में निहित होता है। रवीन्द्र के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि वास्तविक मुक्ति किसी बाहरी साधना में नहीं बल्कि अपने भीतर संतुलन स्थापित करने में है। कहानी का उद्देश्य पाठक को यह बोध कराना है कि जीवन की जटिलताओं के बीच भी सहजता, श्रम और आत्मबोध ही सच्चे अर्थों में मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

गर्त बनी धारा के भीतर (मोनि फुटल धारमे)

यह कहानी मिथिला के एक प्राचीन गाँव शान्तपुर की पृष्ठभूमि में विकसित होती है, जहाँ समय, स्मृति और अनुभव के बीच गहरा संबंध दिखाई देता है। कहानी का केंद्र सुमरितलाल दादा हैं, जो जीवन के अंतिम पड़ाव पर खड़े होकर अपने अस्तित्व, कर्म और मृत्यु से जुड़े प्रश्नों से जूझ रहे हैं। उनके भीतर यह बेचैनी उत्पन्न होती है कि जीवनभर किए गए कर्मों का सार क्या है और मृत्यु के बाद क्या शेष रह जाता है? इसी भावभूमि में वे अपने परपोते रीतलाल को बुलाकर अपने अनुभव और विचार साझा करना चाहते हैं।

रीतलाल के साथ संवाद के क्रम में कहानी जीवन के छोटे-छोटे व्यवहारों से आरम्भ होकर धीरे-धीरे गहरे दार्शनिक अर्थों तक पहुँचती है।

तेल लगाने और नहाने जैसे सामान्य उदाहरणों के माध्यम से सुमरितलाल दादा जीवन के क्रम, स्नेह और पवित्रता के संबंध को स्पष्ट करते हैं। इसके बाद वे मनुष्य की इच्छाओं, लालच और असंतोष की प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं जहाँ एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी जन्म ले लेती है।

संवाद के आगे बढ़ने पर यह विचार उभरकर सामने आता है कि मनुष्य का ज्ञान और अनुभव एकरूप नहीं होता बल्कि वह बिखरा हुआ रहता है, जैसे धारा के भीतर कहीं-कहीं मोती उभरते हैं। यह कहानी जीवन के अनुभवजन्य ज्ञान की महत्ता को प्रभावी रूप से उजागर करती है। कहानीकार संकेत करते हैं कि जीवन की सच्ची समझ किसी एक सूत्र में नहीं बँधती बल्कि विभिन्न अनुभवों और विचारों के बीच से धीरे-धीरे विकसित होती है।

सुमरितलाल दादा के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि अगली पीढ़ी को केवल उपदेश देना पर्याप्त नहीं बल्कि जीवन की दिशा देने वाले अनुभव सौंपना आवश्यक है। कहानी का उद्देश्य यह बोध कराना है कि मनुष्य को बाहरी आकर्षणों और लालच से हटकर अपने भीतर के विवेक और संतुलन को विकसित करना चाहिए क्योंकि जीवन की धारा में सच्चा ज्ञान उसी प्रकार उभरता है जैसे गहराई में छिपा हुआ मोती।

मरने की राह पर (मरैक बाटमे)

यह कहानी रामस्वरूप दास के जीवन के माध्यम से परिवर्तन, अनुभव और समाज की ओर लौटने की प्रक्रिया को चित्रित करती है। युवावस्था में घटित एक भूकंप की घटना उनके जीवन को पूरी तरह बदल देती है। माता-पिता के निधन के बाद वे गाँव छोड़ देते हैं और साधुओं के साथ जुड़ जाते हैं। समय के साथ उनका जीवन साधना, सत्संग और कर्म के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसी क्रम में इनकी पहचान भी परिवर्तित हो जाती है और वे रामस्वरूप मण्डल से रामस्वरूप दास बन जाते हैं। वर्षों तक इस जीवन को जीने के बाद, जब वे अपने अंतिम पड़ाव के निकट पहुँचते हैं तब उनके भीतर यह भावना जागती है कि जीवन का शेष समय अपने

गाँव और लोगों के बीच बिताना चाहिए।

गाँव लौटकर वे रतनलाल जैसे नवयुवक से संवाद करते हैं। इस संवाद के माध्यम से जीवन और मृत्यु के सत्य पर विचार सामने आते हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य जन्म लेते ही मृत्यु की ओर बढ़ने लगता है; यह जीवन का स्वाभाविक क्रम है। साथ ही वे 'समाज-भक्त' बनने की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जिसमें मनुष्य अपने अनुभव और चेतना को समाज के हित में लगाता है। रतनलाल के साथ संवाद के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति केवल धार्मिक साधना तक सीमित नहीं है बल्कि उसका एक रूप समाज के प्रति समर्पण भी है।

यह कहानी जीवन के अंतिम चरण में उत्पन्न आत्मबोध को प्रभावी ढंग से रेखांकित करती है। कहानीकार यह दर्शाते हैं कि अनुभव से प्राप्त दृष्टि मनुष्य को उसके मूल से जोड़ती है। रामस्वरूप दास के भीतर उत्पन्न यह परिवर्तन संकेत देता है कि जीवन का अर्थ केवल व्यक्तिगत साधना में नहीं बल्कि समाज के बीच सक्रिय रहकर उसे समझने और सँवारने में भी निहित है। कहानी पाठक के भीतर यह भावना जागृत करती है कि जीवन की यात्रा अंत की ओर बढ़ते हुए भी अर्थपूर्ण बन सकती है, यदि मनुष्य अपने अनुभव को समाज से जोड़ सके।

अग्रणी लोग (सिरगर लोक)

यह कहानी मिथिला के मिरचैया गाँव के परिवेश के माध्यम से समाज, परंपरा और नेतृत्व की वास्तविक समझ को प्रस्तुत करती है। गाँव का बाहरी स्वरूप साधारण है परन्तु उसकी पहचान उसके लोगों की चेतना और सामूहिक व्यवहार से निर्मित होती है। कहानी का केंद्र मनोहर दादा हैं जो जीवन के अनुभव से समृद्ध ऐसे व्यक्तित्व के रूप में उभरते हैं जो स्वयं के साथ-साथ समाज को भी समझते हैं और उसके भीतर निहित संभावनाओं पर विचार करते हैं। वे गाँव के अतीत और वर्तमान को जोड़ते हुए यह देखते हैं कि पहले के लोग अन्याय का प्रतिरोध करते थे और समाज को एक सूत्र में बाँधकर रखते थे।

पोते लालदेव के साथ संवाद के माध्यम से कहानी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक विचारों के हस्तांतरण को दर्शाती है। मनोहर दादा सरल उदाहरणों के माध्यम से जीवन, भूख, श्रम और विचार की जटिलताओं को स्पष्ट करते हैं। बातचीत के क्रम में वे यह भी रेखांकित करते हैं कि आधुनिक समय में लोग अपनी जड़ों से दूर होते जा रहे हैं जिससे समाज का संतुलन प्रभावित हो रहा है। लालदेव का प्रश्न 'अग्रणी लोग कौन भेला?' कहानी का केंद्रीय बिंदु बन जाता है जिसके उत्तर में मनोहर दादा 'अग्र' की अवधारणा के माध्यम से गहरे सामाजिक अर्थों को उद्घाटित करते हैं।

यह कहानी समाज में नेतृत्व की सही परिभाषा को सामने लाती है। कहानीकार संकेत करते हैं कि अग्रणी वही होते हैं जो समाज की अग्र (जड़ों) को पहचानते हैं और उसे दिशा प्रदान करते हैं। 'अग्र (सिर)' यहाँ केवल शारीरिक अंग नहीं, अपितु मूल, आधार और चेतना का प्रतीक बन जाता है। मनोहर दादा के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति समाज की जड़ और उसकी संरचना को समझता है, वही वास्तविक अर्थ में अग्रणी बनता है। कहानी का उद्देश्य पाठक को यह बोध कराना है कि समाज का विकास केवल बाहरी परिवर्तन से नहीं, अपितु भीतर की समझ और संतुलन से संभव होता है।

द्वैधता (कलछप्पन)

यह कहानी बौएलाल और कुशेश्वर जैसे दो मित्रों के माध्यम से मानवीय संबंधों में निहित सूक्ष्म द्वैधता को उजागर करती है। दोनों एक ही गाँव के हैं, साथ पढ़ते हैं और बाहरी रूप से समान जीवन जीते हुए प्रतीत होते हैं, फिर भी उनके भीतर के संस्कार और दृष्टि अलग-अलग दिशाओं में विकसित होते हैं। बौएलाल का स्वभाव सरल, निष्कपट और साझेदारी पर आधारित है, जबकि कुशेश्वर के मन में प्रतिस्पर्धा के साथ एक छिपाव की प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित होने लगती है। मैट्रिक परीक्षा के परिणाम के बाद यह अंतर और स्पष्ट हो जाता है, जब कुशेश्वर के भीतर शंका और आत्मसंघर्ष उभरने लगता है।

कहानी का विस्तार इस आंतरिक द्वंद्व को समझने की प्रक्रिया में होता है। कुशेश्वर अपने मन की अशांति को पहचानता है और अंततः बौएलाल के पास पहुँचता है। दोनों के बीच संवाद का एक ऐसा धरातल बनता है, जहाँ प्रश्न केवल व्यक्तिगत स्तर तक सीमित नहीं रहता बल्कि एक व्यापक मानवीय स्थिति का रूप ले लेता है। 'कलछप्पन' का अर्थ जानने की जिज्ञासा उन्हें छंठू पण्डित के पास ले जाती है जो अनुभव और विवेक के आधार पर इस शब्द की सरल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार 'कलछप्पन' का आशय है, दूसरे से किसी वस्तु या विचार को छिपाकर रखना।

यह कहानी मानवीय संबंधों में विश्वास और पारदर्शिता के महत्व को प्रभावी रूप से रेखांकित करती है। कहानीकार यह दर्शाते हैं कि समान परिवेश में पले-बढ़े लोगों के भीतर भी भिन्न प्रवृत्तियाँ विकसित हो सकती हैं और यही अंतर संबंधों में दूरी या निकटता को निर्धारित करता है। बौएलाल और कुशेश्वर के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि मित्रता केवल साथ रहने से निर्मित नहीं होती बल्कि मन की साफगोई और साझा भाव से विकसित होती है। कहानी पाठक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि मन का छिपाव धीरे-धीरे संबंधों में दरार उत्पन्न करता है, जबकि खुलापन उन्हें स्थायित्व प्रदान करता है।

निरंकुश लोग (छुट्टा लोक)

यह कहानी सुमित चाचा के अनुभव और उनके चिंतन के माध्यम से बदलते ग्रामीण जीवन और मनुष्य की परिवर्तित होती प्रवृत्तियों को सामने लाती है। पूस की ठंडी सुबह में नींबू के झाड़ के पास खड़े सुमित चाचा प्रकृति को देखते और समझते हुए अपने जीवन की यात्रा तथा समाज की स्थिति पर विचार करते हैं। वे अनुभव करते हैं कि पहले का समय भिन्न था, जब लोग सहज रूप से मिल-बैठकर बातचीत करते थे, समय साझा करते थे और सामाजिक संबंधों को जीवित रखते थे। अब वही जीवन तेज़ी से बदल गया है। व्यस्तता, औपचारिकता और आधुनिक साधनों ने मनुष्य को

भीतर से अलग-थलग कर दिया है।

ललित के साथ संवाद में यह परिवर्तन और अधिक स्पष्ट होता है। सुमित चाचा जीवन, प्रकृति और अनुभव के माध्यम से उसे समझाने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य का संबंध केवल बाहरी संसार तक सीमित नहीं है, वह उसके भीतर की समझ से भी जुड़ा होता है। नींबू के झाड़ के उदाहरण से वे यह स्पष्ट करते हैं कि जीवन में प्रत्येक वस्तु का अपना समय, स्वभाव और प्रक्रिया होती है। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं कि आज का मनुष्य अपने मूल से दूर होता जा रहा है जिससे जीवन की सहजता लगातार कम होती जा रही है।

कहानी का केंद्रीय बिंदु 'छुट्टा लोक' की अवधारणा है, जिसका अर्थ सुमित चाचा के अनुसार वह व्यक्ति है जो दुनिया में रहते हुए भी उससे कटा हुआ रहता है। यह कटाव केवल भौतिक नहीं अपितु मानसिक और सामाजिक भी है। कहानीकार इस विचार के माध्यम से संकेत करते हैं कि आधुनिक जीवन की भाग-दौड़ ने मनुष्य को स्वतंत्र अवश्य बनाया है किन्तु वही स्वतंत्रता उसे समाज से दूर भी ले जा रही है। कहानी पाठक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि वास्तविक जीवन वही है, जहाँ मनुष्य अपने परिवेश, संबंधों और अनुभवों से जुड़ा रहता है; अन्यथा वह भीड़ के बीच रहकर भी अकेला रह जाता है।

अनुभवी लोगों की वाणी (उम्रदारक स्वर)

यह कहानी क्षेमबाबू के जीवन के उस चरण को चित्रित करती है, जहाँ अनुभव, पश्चाताप और आत्मबोध एक साथ सक्रिय हो उठते हैं। पत्नी के निधन के बाद वे जीवन और मृत्यु के सत्य के सामने खड़े हो जाते हैं। अब तक जो जीवन सामान्य गति से चलता रहा, वह अचानक एक गहन प्रश्न में परिवर्तित हो जाता है। मृत्यु के अनुभव से उन्हें यह स्पष्ट होने लगता है कि मनुष्य चाहे कितनी भी योजनाएँ बना ले, अंततः सब कुछ सीमित है। परिवार, संबंध और स्मृतियाँ उनके आसपास मौजूद हैं, फिर भी उनके भीतर एक गहरा अकेलापन और आत्ममंथन की स्थिति उत्पन्न होती है।

सोमबाबू के साथ संवाद कहानी को आगे बढ़ाता है। गुरु और शिष्य के संबंध का यह पुनर्मिलन केवल औपचारिक स्तर तक सीमित नहीं रहता बल्कि एक गहरी आत्मस्वीकृति का रूप ले लेता है। क्षेम बाबू अपने अतीत की एक घटना को स्मरण करते हैं और स्वीकार करते हैं कि उस समय किया गया व्यवहार वर्तमान दृष्टि से उचित नहीं था। यही स्वीकार उनके भीतर प्रायश्चित की भावना को जन्म देता है। इसी क्रम में वे 'विनय' के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करते हैं जो केवल बाहरी व्यवहार तक सीमित नहीं है बल्कि भीतर की अहंकारशून्यता से संबंधित है।

यह कहानी अनुभवजन्य ज्ञान की महत्ता को स्थापित करती है। कहानीकार यह संकेत करते हैं कि उम्र केवल समय का संचय नहीं है, वह समझ और संवेदना की परिपक्वता का भी द्योतक है। क्षेम बाबू के विचारों में यह परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि जीवन के अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर मनुष्य अपने अतीत को नए दृष्टिकोण से देखता है और स्वयं को परिष्कृत करने का प्रयास करता है। 'उम्रदारक स्वर' इस तथ्य को रेखांकित करता है कि अनुभवी व्यक्ति की वाणी में केवल ज्ञान नहीं, अपितु जीवन का सार निहित होता है जो आने वाली पीढ़ी के लिए दिशा प्रदान करता है।

मनुष्य का मूल्य (मनुक्खक मोल)

यह कहानी ललित के अनुभवों के माध्यम से मनुष्य के वास्तविक मूल्य की खोज को प्रस्तुत करती है। ललित मकर संक्रान्ति का पर्व मनाने के उद्देश्य से गाँव जा रहा है परन्तु यात्रा के दौरान उसके भीतर यह प्रश्न उठता है कि पर्व का वास्तविक अर्थ क्या है और उससे मनुष्य को क्या प्राप्त होता है। इसी बीच बस स्टैंड पर हुई एक दुर्घटना होती है जिसमें एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, उसके विचारों को झकझोर देती है। वह घटनास्थल पर पहुँचकर लोगों की प्रतिक्रियाएँ सुनता है और समझता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव और दृष्टि के आधार पर ही घटना को अर्थ देता है।

इस घटना के बाद ललित के भीतर विचारों का एक नया क्रम आरम्भ होता है। वह केवल पर्व मनाने की औपचारिकता तक सीमित नहीं रहना

चाहता बल्कि उसके पीछे निहित अर्थ को समझने का प्रयास करता है। इसी क्रम में वह अपने शिक्षक कुशल किशोर बाबू से मिलता है। उनके साथ संवाद में यह स्पष्ट होता है कि जीवन के प्रश्नों के उत्तर बाहर नहीं बल्कि भीतर की स्थिरता और समझ में निहित होते हैं। वे उसे यह संकेत भी देते हैं कि समाज को कोई संदेश देने से पूर्व स्वयं उस अनुभव को जीना आवश्यक है।

यह कहानी स्थापित करती है कि मनुष्य का वास्तविक मूल्य उसकी संवेदना, विवेक और व्यवहार में निहित होता है। केवल ज्ञान या विचार पर्याप्त नहीं होते, जब तक वे जीवन में रूपांतरित न हों। ललित की यात्रा एक साधारण यात्रा नहीं रहती, वह एक ऐसे बिंदु तक पहुँचती है जहाँ वह जीवन, समाज और अपने दायित्व के संबंध को समझने की दिशा में अग्रसर होता है। कहानी पाठक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि मनुष्य की वास्तविक पहचान उसकी आंतरिक जागरूकता और उसके कर्मों से निर्मित होती है।

इन समस्त कहानिओं के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि यह संग्रह केवल विविध विषयों का संकलन नहीं बल्कि जीवन के बहुआयामी अनुभवों का एक समन्वित रूप है। प्रत्येक कहानी अपने स्तर पर मनुष्य, समाज और समय के अंतर्संबंधों को नए दृष्टिकोण से उद्घाटित करती है। इन रचनाओं में निहित प्रश्न, अनुभव और संकेत पाठक को निरंतर आत्मचिंतन के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार ‘मुक्ति’ एक ऐसे कहानी-संसार का निर्माण करती है जहाँ जीवन का यथार्थ और उसके अर्थ की खोज साथ-साथ चलती है।

- डॉ. विनीत कुमार लाल दास

सर्व नारायण सिंह राम कुमार सिंह महाविद्यालय, सहरसा

17 मार्च 2026

सम्पर्क: +91 831 855 0178

साभार

☰

इस अनुवाद-कार्य की पूर्णता मेरे लिए केवल एक साहित्यिक उपलब्धि नहीं, अपितु अनेक आत्मीय सहयोगों और प्रेरणाओं का परिणाम है। इस अवसर पर उन सभी व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मेरा नैतिक दायित्व है जिनके सहयोग से यह कार्य संभव हो सका।

सर्वप्रथम मैं मूल लेखक आदरणीय श्रीमान जगदीश प्रसाद मण्डल के प्रति अपनी गहन कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उन्होंने मुझपर विश्वास करते हुए इस महत्त्वपूर्ण कार्य का दायित्व सौंपा तथा अनुवाद का अधिकार प्रदान किया। उनका यह विश्वास मेरे लिए स्थायी प्रेरणा का स्रोत बना रहा। उनकी रचनाओं की संवेदना और व्यापक जीवन-दृष्टि को हिंदी में रूपांतरित करना, मेरे लिए एक गंभीर उत्तरदायित्व था जिसे निभाने का अवसर मिलना, अपने आप में सौभाग्य का विषय है।

अनुवाद-विधा के विकास में योगदान देने वाले सभी विद्वानों के प्रति मैं अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ। विशेषतः डॉ. संजीव शमा के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरे, मण्डल जी तथा उनकी रचनाओं के मध्य एक सुदृढ़ सेतु का कार्य किया। उनके मार्गदर्शन, विश्वास तथा समय-समय पर प्रदान किए गए सुझावों ने इस कार्य को दिशा दी और इसे सुव्यवस्थित रूप में पूर्ण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सर्व नारायण सिंह राम कुमार सिंह महाविद्यालय के अपने सहकर्मी कथा-साहित्य के मर्मज्ञ डॉ. उमेश मण्डल के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। इन्होंने निरंतर मुझे प्रेरित किया, मेरे कार्य के प्रति उत्सुकता बनाए रखी तथा समय-समय पर यह पूछकर कि यह कार्य कब पूर्ण होगा, मेरे भीतर सकारात्मक प्रेरणा

का संचार किया। उनका यह सहयोग मेरे लिए ऊर्जा का स्रोत सिद्ध हुआ।

'पल्लवी प्रकाशन' के प्रति भी मैं हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। उन्होंने अत्यंत अल्प समय में, मेरी अपेक्षाओं के अनुरूप, इस पुस्तक के प्रकाशन से संबंधित समस्त प्रक्रियाओं को दक्षता एवं गंभीरता के साथ पूर्ण किया। उनके सहयोग से यह कृति समय पर अपने पाठकों तक पहुँच सकी।

अंत में, अपनी पत्नी श्रीमती पिंकी देवी के प्रति मैं विशेष एवं भावपूर्ण आभार प्रकट करता हूँ। उनके निरंतर सहयोग, धैर्य, समझ तथा आत्मीय साथ के बिना यह कार्य संभव नहीं हो पाता। उन्होंने प्रत्येक चरण पर मेरा मनोबल बढ़ाया और इस दीर्घ प्रक्रिया में मेरा संबल बनी रहीं।

- डॉ. विनीत कुमार लाल दास

सामयिक लफंगा

☰

दुनिया के अनेक गहराई में विचार और वस्तुएँ भी है ही। अबतक के जीवन में, मतलब मनुष्य के जीवन में, मुख्य रूप से केवल पानी की गहराई को परखने का चलन रहा है, क्योंकि लोग प्रत्यक्ष रूप से पानी में ही डूबकर मरते हैं, शेष जो हवा है कि धरती या आकाश के बीच में न कोई किसी को मरते देखा है और न डुबते देखा है। इसीलिए गहराई मापने की आवश्यकता नहीं पड़ी। आज ही नहीं, पुराने समय से ही लोग यह जानते आए हैं और अभी भी जानते हैं कि पानी का भंडार हुआ कुआँ, तालाब, धाराएँ और धाराओं के बीच बनी खड्डों के साथ झील और समुद्र। इसीलिए जैसे समुद्र की गहराई फैदम से मापी जाती है, वैसे ही झील से तालाब-कुआँ तक गज-फीट कहें या हाथ-बित्ता, उससे मापी जाती है। वैसे, समुद्र को लेकर एक विवाद है ही, यह झील के संदर्भ में भी है यह मान लिया जाता है कि जबतक पानी के नीचे सतह हो, तबतक उसकी गहराई मापी जा सकती है लेकिन जहाँ धरती ही न हो, वहाँ मापन कैसे संभव है? यदि डूबने के भय से कोई उस गहराई को मापने का साहस न करे, तो मै भी उसकी बात मान लेता हूँ। इसके बावजूद मन में यह संशय बना रहता है कि पानी ही समुद्र है या समुद्र ही पानी है, इसे कैसे समझा और स्वीकार किया जाए?

मोथा की चटाई पर बैठे, बैठका की बारामदा के खंभे से पीठ टिकाए, सुचित चाचा मन-ही-मन दुनिया को देख विचार कर रहे हैं कि धरती जैसी, मतलब आकाश और पाताल के बीच जो धरती है वैसी ही, तो फिर आकाश और पाताल नहीं है? इसीलिए गहराई का पार पाना असंभव हो ही गया है। देखा हुआ रास्ता को लोग दूसरों से बिना पूछे चले जाते हैं लेकिन जो रास्ता

देखा ही नहीं गया, वहाँ पहुँचना बिना देखे कैसे संभव है? धरती पर सुचित चाचा रहते हैं। इसीलिए जानते हैं कि अमूक गाँव अपना गाँव से पूर्व में है और अमूक गाँव अपना गाँव से दस कोस हटा है। अभी इस बात को छोड़ें कि धरती की माप मापने के लिए न तो कोई एक समान माप उपलब्ध है और न ही धरती हर जगह एक जैसी है। कहीं समतल है, तो कहीं ऊबड़-खाबड़ या कटी-फटी। मन ही मन सुचित चाचा विचारों के वन में भटकने लगे।

अकेला देख, अर्थात विचारों की जंगल में, उन्हें भयवह लगा। भयावह लगते ही, भयावहता के वृक्ष के पास पहुँचते ही, सुचित चाचा डरकर नीचे की ओर देखने लगे। धरती के नीचे पातालतक विस्तार है। पाताल की सात भाग मानी जाती है- अतल, वितल, सुतल, तरातल, रसातल, महातल और उसके नीचे पाताल। जहाँ न तो हवा पहुँचती है और न सूर्य का प्रकाश। वहाँ की स्थिति यदि भयावह नहीं हो, तो फिर भयावह होगी कहाँ? अचानक सुचित चाचा का मन सचेत हो उठता है। चेतना आते ही याद आया कि जैसे मेघनाद का बाण लगने पर लक्ष्मण मूर्छित हो गए थे और संजीवनी मिलने पर तुरंत उठ खड़े हुए थे, उसी तरह सुचित चाचा का अंतर्मन भी जागृत हो गया। उनके भीतर यह विचार उत्पन्न हुआ कि भयमुक्त जीवन ही वास्तविक जीवन है जो धर्म और नीति भी कहता है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति अपनी परिश्रम से परीक्षा देने जा रहा हो, तो उसके भीतर का मन यह कहे कि यदि महावीर जी को सवा सेर लड्डू चढ़ाने का वचन दें तो सफलता निश्चित हो जाएगी। ऐसे में मनुष्य के संस्कार कभी जागते हैं और कभी सो जाते हैं। यही जानना और मानना धर्म है या धर्म वह नहीं है जिसे कोई दाता महंथ या भावनाओं को झकझोर देने वाला उपदेशक बाँटता फिरता है, बल्कि धर्म वह है जिसे मनुष्य अपने भीतर के कर्म और सत्य से पहचानता है।

तर्क और वितर्क करते हुए सुचित चाचा के मन में यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से उभर आया कि जीवन के कुछ पक्ष जैसे सामाजिक होते हैं, वैसे ही व्यक्तिगत भी होते हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत

जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन भी गहराई से जुड़ा रहता है। मन ही मन सुचित चाचा बैठका के बारामदा के खंभे से पीठ टिकाए, मोथा के बिछावन पर बैठे, इन्हीं विचारों में डूबे हुए थे। तभी उनकी पत्नी चाय लेकर आ पहुँचीं। पत्नी के हाथ में चाय देखकर सुचित चाचा का मन एकाएक स्थिर हो गया। चित्रलेखा बिना कुछ कहे चाय आगे बढ़ा देती हैं। सुचित चाचा भी बिना बोले चाय का ग्लास थाम लेते हैं और एक घूंट पीते ही उनका मन कुछ हल्का महसूस करता है। वे अनायास बोल पड़ते हैं- “चाय का स्वाद दूसरे दिन से अलग है।”

चित्रलेखा चाची अपनी हिसाब से अपने पति को नस-नस जानती हैं। यहाँ ‘नस-नस' का अर्थ उनके साथ बितते हुए जीवन के व्यावहारिक रूप से है। वैसे नस-नस शब्द का अर्थ विकराल भी होता है और ऐसा भी कहा जा सकता है कि अगम और अज्ञेय भी है ही किंतु ऐसा नहीं,यहाँ बस इतना ही कि दोनों व्यक्ति का जो गतिशील जीवन है, वे एक-दूसरे को देखते भी हैं और समझते भी हैं।

पति के मुँह से यह सुनकर कि "चाय का स्वाद दूसरे दिन से अलग है" चित्रलेखा का मन स्थिर नहीं रह पाया। वह तुरंत सजग हो गईं और सोचने लगीं कि ‘अलग’ का अर्थ अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। यदि स्वाद अच्छा है तो क्या अच्छा है और यदि खराब है तो उसमें क्या कमी रह गई? चित्रलेखा चाची ने सुचित चाचा से पूछा-

“क्या अच्छा हुआ है?”

अच्छा भी तो अच्छा है। जब मन शांत रहेगा तब सब कुछ अच्छा ही लगेगा और जब मन अस्थिर या बेचैन होता है, तब अच्छी चीज़ भी खराब लगने लगती है। यह हम अपने आसपास देखते हैं कि कई लोग धर्म को आधार बनाकर, स्वर्ग प्राप्त करने की कामना से अच्छे आचरण का पालन करते हैं और उसे स्वीकार भी करते हैं। इसीलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो नर्क के भय से अच्छे आचरण को अपनाते हैं और उसी मार्ग से स्वर्गतक पहुँचना चाहते हैं। यह भी कहा जा

सकता है कि किसी भी कारण से किया गया अच्छा कर्म, अंततः अच्छा ही होता है लेकिन ऐसा भी कहा जा सकता है कि जब नर्क के भय से स्वर्ग का मार्ग अपनाया, तो क्या वह सच्चे अर्थों में धर्म का पालन कर रहा है? धर्म तो मनुष्य को भय से मुक्त करता है और उसे अभय प्रदान करता है। खैर, जो है, जहाँ है, वह वहीं रहे। यहाँ सुचित चाचा और चित्रलेखा चाची के बीच की बात है। वैसे चित्रलेखा चाची के मन में यह भी विचार उठ रहा था कि चाय तो केवल एक बहाना भी हो सकता है, यदि मन में कोई और बात हो जो प्रत्यक्ष रूप से न कहकर व्यंग्य में कह रहे हों लेकिन उसी बीच सुचित चाचा बोलें-

"चाय बनाने का नियम है कि मात्रा के अनुसार सब कुछ, अर्थात चायपत्ती, चीनी, दूध और पानी को आग की ज्वाला पर चढ़ाकर बनाना। संभवतः यही आज हुआ है।"

परिवेश के बदलने से जैसे सुसंस्कृत लोगों का जन्म भी होता है और वृद्धि भी होता ही है। वैसे ही परिवेश पाकर सामयिक लफंगा का जन्म न हो, वह भी कैसे न कहा जाय। जीव भगवान के बीच लफंगा माया भी है ही। हमारे यहाँ, अर्थात भारतीय चिंतनधारा में, बौद्धिक पद्धति का चलन रहा है। अभी वेद क्या और वैदिक पद्धति क्या, उसमे नहीं जाऊँगा। अभी बस इतना ही कि वैदिक पद्धति वह प्रणाली है जिसमें प्रत्येक कर्म और विचार को उचित और अनुचित की कसौटी पर कस, करना और मानना जो अन्य पद्धतियों में नहीं है। इसी कारण अनेक विचारकों ने भी वैदिक पद्धति को स्वीकार किया है।

चित्रलेखा चाची बोलीं- "बात तो सुंदर कही आपने, पर यह बताइए कि क्या चाय पीने वाले जो हैं वे सभी एक जैसे होते हैं?"

पत्नी की बात सुनकर सुचित चाचा चौंक गए। उनका चौंकना इस कारण से था कि अबतक वे यही समझते आए थे कि जैसे चाय एक पेय पदार्थ है, वैसे ही पीने वाला भी उसी रूप में होता है लेकिन पत्नी का प्रश्न उनके सामने था। यदि यहाँ चुप रह जाएँ, तो दुनिया में कहाँ बोलूँगा? लेकिन

फिर अपने मन से उन्होंने यह भी कहा कि पत्नी भी कोई दूसरी हुईं। वह तो उनकी अर्धांगिनी है, उनके आधे अंग की स्वामिनी है। क्यों न उसने ही दोबारा पूछ लूँ। सुचित चाचा के मन ने यह स्वीकार कर लिया कि इस प्रश्न का उत्तर पत्नी की ही मुख से सुन लेना उचित होगा। सुचित चाचा का मन ने मान लिया कि प्रश्न का उत्तर पत्नी की ही मुँह से सुन लेना उचित होगा। मन तो मान ही लिया पर उसी क्षण मन के भीतर एक और विचार उठा कि प्रश्न भी दो प्रकार के होते हैं- एक वह जिसे पूछने वाला स्वयं जानता है और सामने वाले की परीक्षा लेने के लिए पूछता है। दूसरा वह जो बिना किसी विशेष उद्देश्य या सोच के, सहज रूप से पूछ लिया जाता है। इसी द्वंद्व में पड़े सुचित चाचा का नाड़ी तंत्र तेज हो गया। शरीर के भीतर नाड़ी तंत्र का अपना अलग कार्य है और विशिष्ट दुनिया भी होती है। नाड़ी तंत्र के सक्रिय होते ही सुचित चाचा बोले- "पीने वाले कितने प्रकार के होते हैं?"

पति का यह प्रश्न सुनकर चित्रलेखा चाची, मानो सुचित चाचा के विचारों के सीने पर बैठकर बोलीं-

"यह कैसे कहा जा सकता है कि पीने वाले केवल दो ही रंग के होते हैं। जितने पीने वाले होते हैं, उतने ही प्रकार के हैं।"

पत्नी की बात सुनकर सुचित चाचा थोड़े असमंजस में पड़ गए कि वह क्या कहना चाह रही हैं। वस्तु एक और पियक्कड़ अनेक। उन्होंने कहा- "कृपया इसे थोड़ा विस्तार से समझाइए।"

चित्रलेखा चाची बोलीं- "कहने के लिए चाय एक पेय पदार्थ है। सामान्य व्यवहार में चायपत्ती, चीनी, दूध और पानी को मिलाकर जब उसे आग पर उबाला जाता है, तब चाय बनती है लेकिन बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। कोई पीने वाला कहता है कि वह अधिक चायपत्ती डालकर चाय पीता है। कोई कहता है कि उसे मिठास पसंद है, इसलिए वह अधिक चीनी डालता है। कोई कहता है कि वह मधुमेह का रोगी है, इसलिए बिना चीनी की चाय पीता है। यदि सैकरीन हो, तो उसका उपयोग करता है।"

चित्रलेखा चाची धाराप्रवाह बोल ही रही थीं कि उसी समय

उचितलाल हाँफता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उसकी व्यग्र अवस्था को देखकर, जैसे चित्रलेखा चाची ने अनायास ही अपनी मुँह को बंद कर लिया, वैसे ही सुचित चाचा ने भी पलकें उठाकर उसकी ओर देखा। तीनों की दृष्टि एक-दूसरे पर टिकी हुई थी लेकिन किसी के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। यह वैसी ही स्थिति थी जैसी किसी जघन्य घटना का दृश्य देखकर हो जाती है, जब वाणी एकाएक स्थिर हो जाती है।

उचितलाल जो हड़बड़ी में वहाँ पहुँचा था, उसके कारण उसकी साँसें तेज चल रही थीं, जो अब धीरे-धीरे सामान्य हो रही थीं। उसकी स्थिर साँसों को देखकर अब यह चर्चा करना अनावश्यक था कि बाहर से भीतर जाने वाली हवा क्या हुआ और भीतर से बाहर निकलने वाली क्या? अभी बस इतना ही कि उसके कदमों की गति और विचारों की उठा-पटक रुकते ही उसका मन भी धीरे-धीरे शांत होने लगा।

सुचित चाचा ने पूछा- "बच्चा! इतनी हड़बड़ी और बेचैनी में क्यों आया था?"

उचितलाल बी. ए. का विद्यार्थी है और अगले महीने उसकी अंतिम परीक्षा होने वाली है। वह इस समय उस सीमा पर खड़ा है जहाँ से एक ओर विद्यार्थी जीवन का अंत होता है और दूसरी ओर पारिवारिक उत्तरदायित्वों से युक्त जीवन की आरंभ होती है। जैसे झूठ और सत्य के बीच, जीवन और मृत्यु के बीच तथा लाभ और हानि के बीच एक विभाजक रेखा होती है, उसी पर इस समय उचितलाल खड़ा है। अबतक वह परिवार के बोझ से मुक्त था लेकिन परीक्षा के बाद वह एक नए जीवन में प्रवेश करने वाला है।

वर्तमान परिस्थिति में उसके सामने कई मोर्चे उपस्थित हैं। उसे उन घाटों को पार करना है जो जीवन की एक महत्वपूर्ण संक्रमण-रेखा बनाते हैं।

उचितलाल को आते देख चित्रलेखा चाची का मुँह जैसे ही उस समय बंद हुआ था, वह अबतक खुला नहीं था। वैसे उनके भीतर कई विचार जाग चुके थे किंतु वे जानती थीं कि पिता और पुत्र के बीच होने वाली बातचीत

में हस्तक्षेप करना उचित नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि माँ का उस संवाद में कोई स्थान नहीं है बल्कि यह समझदारी का संकेत है कि कुछ संवाद ऐसे होते हैं जहाँ मौन की भूमिका सबसे बड़ी होती है।

उचितलाल ने कहा-

"बाबू! गाँव के चौक पर कोई अनहोनी घटना घट गई है।"

उचितलाल के मुँह से 'अनहोनी घटना' सुनते ही सुचित चाचा का मन सतर्क हो गया। सुचित चाचा के लिए 'होनी' वही होती है जो घट चुकी हो, जिसे अनुभव या अर्जन की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'अनहोनी' वह होती है, जो अभी घटी नहीं है, केवल संभावित है। यदि यह बात आज किसी और व्यक्ति के मुँह से सुनाई दी होती तो शायद उसका कोई विशेष अर्थ न निकलता। प्रायः लोग अनेक बातें ऐसे ही कह जाते हैं जिनका अर्थ वे स्वयं भी ठीक से नहीं समझते।

इसी कारण किसी भी घटना के चारों ओर विभिन्न प्रकार के रंगों से भरे आभामंडल बनने लगते हैं। जितने देखने और सुनने वाले होते हैं, उतने ही प्रकार के भाव और अर्थ उस घटना से जुड़ जाते हैं और उन्हींसे उतने ही भिन्न-भिन्न शब्द और विचार भी जन्म लेते हैं। जब कोई विचार शब्द का रूप लेता है, तभी वह धरती पर उतरता है और यथार्थ बनता है।

सुचित चाचा ने पूछा-

"उचित! कौन-सी अनहोनी?"

उचितलाल ने उत्तर दिया- "बाबू! उत्तर दिशा से टहलकर जब मैं गाँव के चौक पर पहुँचा तो वहाँ पंद्रह-बीस लोग इकट्ठे थे और आपस में कहा-सुनी हो रही थी। गाँव का चौक है, वहाँ कुछ न कुछ उत्तरदायित्व तो होती ही है।"

'उत्तरदायित्व' शब्द सुनकर सुचित चाचा के मन में एक संतोष की भावना उभर आई। उन्हें यह अच्छा लगा कि उचितलाल ने इस शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि समाज में सबसे बड़ी कमी यही देखी जाती है कि लोग अपनी उत्तरदायित्व की भावना को समझ ही नहीं पाते।

सुचित चाचा बोले-

"जरा विस्तार से बताओ, वहाँ क्या हो रहा था?"

उचितलाल ने कहना शुरू किया-

"पहले तो वहाँ इतना शोर था कि जिसे जो मन में आता था वही बोल रहा था। किसे कहे चुप रहो और किसे कहें तुम बोलो। एक तो वैसे भी देखता हूँ कि जो बोलने में आगे रहता है, वह प्रायः अपनी सीमा पार कर जाता है। ऐसी स्थिति में चुप रहना ही सबसे बेहतर विकल्प होता है।"

उचितलाल की बात सुनकर सुचित चाचा के विचार और भी गहरे होते गए। उनके मन में यह बात उठी कि अभी उचितलाल को पूरी तरह समझदार मान लेना उचित नहीं है लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि उसमें समझदारी धीरे-धीरे आ रही है। जब समझदारी का विकास होता है, तभी कोई व्यक्ति वास्तव में समझदार बनता है।

सुचित चाचा ने पूछा-

"इसके बाद क्या हुआ?"

उचितलाल ने उत्तर दिया-

"एक-दो लोग पहले चुप हुए, फिर धीरे-धीरे सभी शांत हो गए। मैंने वहाँ एक व्यक्ति को मार खाते देखा और दूसरे को मारते हुए भी देखा।"

सुचित चाचा बोले-

"आज का परिवेश ऐसा बनता जा रहा है कि इस प्रकार की घटनाएँ होती ही रहेंगी।"

उचितलाल ने पूछा-

"क्या पहले ऐसी घटनाएँ नहीं होती थीं?"

सुचित चाचा ने कहा-

"घटनाओं का होना स्वाभाविक है, इसलिए वे हर युग में घटती रही हैं लेकिन आज के परिवेश में इनका स्वरूप बदल गया है। अब यह सब अधिकतर पैसे और स्वार्थ के कारण हो रहा है। पहले स्थितियाँ कुछ भिन्न

प्रकार की होती थीं।"

उचितलाल ने जिज्ञासा से पूछा-

"वह भिन्न प्रकार कैसा था?"

सुचित चाचा बोले-

"इतिहास बहुत विस्तृत है, पर जैसे सात कांडों वाली रामायण की समस्त कहानी आठ पंक्तियों 'आदौ राम तपोवनादि गमनं, हत्वा मृगं कंचनम्...' में समा जाती है, उसी तरह सामयिक लफंगा का भी अपना एक लंबा इतिहास है। जैसे भगवान और जीव के बीच माया होती है, उसी प्रकार समय और मनुष्य के बीच 'सामयिक लफंगा'।" ❑

विषम समय में सम कर्म

☰

नाना के देहांत के आठवें दिन रमेश ननिहाल आया। उसका वहाँ आना उस विश्वास पर आधारित था, जो उसने बचपन में अपनी माँ के मुख से सुना था कि उसका जन्म ननिहाल में हुआ है। यद्यपि वह मेडिकल का छात्र है और तर्कशील भी है, फिर भी वह यह मानता है कि भूतकाल केवल बीता हुआ समय होता है।

यह मानना आवश्यक नहीं है कि भूत केवल बेईमान या शैतान होते हैं। असल प्रश्न यह है कि 'बेईमानी' वास्तव में होती क्या है? यह विचार स्वीकार करने योग्य है, क्योंकि बहुत-से लोग भूत को केवल छाया के रूप में देखते हैं। जैसे सूर्य या चंद्रमा के प्रकाश में मनुष्य अपनी छाया देखता है, वैसे ही भूत की भी एक परिकल्पना होती है। यदि यह केवल एक छाया है, तो भूत को बेईमान कैसे कहा जा सकता है? लेकिन पकड़ाया हुआ चोर भागेगा कैसे? आप भी यही कहते हैं, हम भी यही कहते हैं और समाज में भी यही कहा जाता है कि अंततः सभी मनुष्य, मनुष्य ही है। तब यह प्रश्न भी उठता है कि भूत स्त्रियों को अधिक क्यों दिखाई देता है और पुरुषों को कम। कम क्या कहेंगे नहीं के बराबर ही।

ऐसे में आप ही बताइए कि भूत वास्तव में बेईमान है या नहीं?

अभी मैं चुड़ैल, जिन्न, प्रेत आदि की चर्चा नहीं कर रहा हूँ कि भूतों की जैसी उन सभी की कारनामा कहता।

नाना के निधन का समाचार सुन, एकाएक रमेश के मन में गहरा कंपन उत्पन्न हुआ, जैसे वह पाताल के जल में डूब गया हो। यहाँ 'पाताल के जल' से आशय उस मानसिक गहराई से है, जैसे विचारों के गहरे कुएँ में

डूब जाना। जितना गहरा विचारों का कुआँ होता है, उतनी ही गहरी सोच उसमें जन्म लेती है और मनुष्य उसमें डूब जाता है।

पाताल का जल, जिसे लोग पवित्र मानकर पीते हैं, समुद्र के जल से अलग होता है, जिसे खारा समझा जाता है और जिससे नमक बनाया जाता है। भाई! यह दुनिया ऐसी ही है। इसमें कुछ भी अपने आप में बुरा नहीं होता। आवश्यकता केवल इतनी है कि किसी भी चीज़ का उपयोग सही ढंग से करना आना चाहिए। पानी, चाहे सीधे पिया जाए या नमकीन बनाकर उपयोग में लाया जाए, आखिरकार पानी ही होता है।

अबतक रमेश ने न तो किसी चिता को जलाते हुए अपनी आँखों से देखा था और न ही स्वयं अपने हाथ-पैरों से वह कर्म किया था। कहेंगे कि रास्ते चलते उसने कभी चिता जलते हुए नहीं देखी, यहाँ यह कहना उचित नहीं होगा कि यहाँ 'जलते हुए' नहीं, बल्कि 'जलाते हुए' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। 'जलते हुए' का अर्थ केवल देखनेतक सीमित है, जबकि सच्चा अनुभव और ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब वह किसी कर्म के माध्यम से आत्मसात किया गया हो। इस अर्थ में रमेश ने अबतक उस अनुभव को प्रत्यक्ष रूप में नहीं जिया था।

एक तो नाना की मृत्यु की घटना थी, जो उनके जीवन का पूर्ण विराम थी और दूसरी ओर अपने कर्तव्य को पहचानने तथा निभाने की चुनौती थी, जिस पर रमेश मनन कर रहा था। 'घटना' शब्द जिस रूप में हमारे सामने आता है, उसे हम कास के फूल की तरह भी समझ सकते हैं या कास-पढ़ेर के उन फूलों की तरह, जो हवा के झोंकों में उड़ते हुए किसी गाँव से निकलकर देश की सीमा पार करके किसी अन्य देशतक पहुँच जाते हैं।

मेडिकल के अंतिम वर्ष का छात्र होने के कारण रमेश का जीवन इस तरह चौबीस घंटे की गति में बँध चुका है कि जैसे ही कोई अवकाश मिलता है, उस समय जीवन के कुछ कोमल और संवेदनशील पक्ष प्रभावित हो ही जाते हैं। नाना की मृत्यु का समाचार सुनते ही उसमें एक मानसिक हलचल शुरू हो गई।

जिस प्रकार किसान के काम या किसी नौकरी-पेशा वाले व्यक्ति के

दिनचर्या में जब अचानक कोई रुकावट आती है, तो वह इंजन की धुरी की तरह होता है, जिसमें जरा-सी ढील आ जाए तो वह अपने अनेक पुर्जों को तोड़-फोड़ देता है। उसी प्रकार, जब किसी व्यक्ति का जीवन एक नियमित प्रणाली में बँधा हो, तब अचानक उसमें व्यवधान उत्पन्न हो जाए तो वह संपूर्ण मानसिक संतुलन को विचलित कर सकता है।

अकेले कोठरी में बैठे रमेश के मन में यह विचार उठने लगा कि कार्यों को कैसे सम्पन्न किया जाए कि किसी भी कर्म की क्रमबद्धता बाधित न हो। क्या यही समझदारी नहीं मानी जाती कि किसी कार्य को क्रियान्वित करने से पहले, उसे विचार की धरती पर सम्यक रूप से परखा जाए? अन्यथा, कार्य तो कार्य है, वह अपने आप में इतना संलग्न होता है कि यदि सही दिशा न मिले तो फिसलकर किसी भी दिशा में चला जाता है।

काम की व्यवस्था जमाते-जमाते रमेश का पूरा दिन बीत गया। समाज में एक ऐसी परंपरा बन चुकी है कि मृत्यु के पश्चात जितनी जल्दी हो सके, श्मशान पहुँच जाना उचित माना जाता है। इसके विपरीत वह स्थिति भी देखने को मिलती है जहाँ कोई व्यक्ति यदि बाहर मर जाए, तो उसके शव को सात-सात दिनतक वाहन या सवारी में घुमाया जाता है।

सोच-विचार करते हुए रमेश का दिन यूँ ही समाप्त हो गया। इसका अर्थ यह नहीं था कि उसने चिंता में सिर पर हाथ रखकर समय बर्बाद किया। कार्य के साथ-साथ उसके भीतर विचारों की धारा भी सतत बहती रही। जैसे कार्य को एकाग्रता प्रिय होती है, वैसे ही ध्यान को शांति प्रिय होती है। रमेश ने आने वाले कार्यों की योजना बनाकर, उन्हें व्यवस्थित करते हुए स्वयं को अगले चरण के लिए तैयार कर लिया। वह मन से निवृत्त हो गया।

निवृत्त होते ही रमेश को नाना की मृत्यु की स्मृति लौट आई। उसे यह भी याद आया कि उसे नाना की पहली क्रिया में, अर्थात शवदाह की प्रक्रिया में सहभागी बनना है। उसने तुरंत मोबाइल उठाया और मोहितलाल का नंबर मिलाया।

मोहितलाल, रमेश के जेष्ठ मामा। जेष्ठ मामा का अर्थ है- रमेश की माँ

के बड़े भाई।

कॉल रिसीव होते ही मोहितलाल बोले-

"बच्चा..."

रमेश ने उत्तर दिया-

"हाँ मामा!"

भांजे और मामा के बीच एक गहरा भावनात्मक मिलन हुआ। इस मिलन का कारण मृत्यु थी, अर्थात एक के पिता और दूसरे के नाना का देहांत। सामान्यतः जीवनभर का ऐसा आत्मिक मिलन साझा अनुभवों की निरंतरता से होता है, जो रमेश और मोहितलाल के बीच नहीं था। फिर भी पारिवारिक संबंधों की प्रकृति ऐसी होती है कि वहाँ हृदय के साथ-साथ आत्मा का संबंध भी जुड़ जाता है, भले ही वह संबंध समय और अनुभव के टुकड़ों में ही क्यों न बँटा हो।

अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी की भावना से प्रेरित होकर मोहितलाल बोले-

"बच्चा! नाना दुनिया छोड़ गए हैं।"

मोहितलाल यह बात कहते समय यह भी समझ रहे थे कि वे ऐसे भांजे से बात कर रहे हैं जो मेडिकल के चौथे वर्ष का छात्र है और जिसे लगभग डॉक्टर बनने का अधिकार मिलने ही वाला है। आज के परिवेश में तो लोग पंद्रह दिन की ट्रेनिंग लेकर भी डॉक्टर का प्रमाणपत्र पा लेते हैं। इसके बावजूद यह स्वीकार करना पड़ता है कि पाँच वर्ष का एम.बी.बी.एस. पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद भी, आगे की पढ़ाई और प्रशिक्षण में वर्षों का समय और मेहनत लगती है।

जब मोहितलाल ने कहा कि नाना दुनिया छोड़ गए हैं, तो रमेश के मन में रत्ती भर भी शंका नहीं रही। यह सच है कि ‘दुनिया छोड़ना’ केवल मृत्यु का द्योतक नहीं होता। संन्यासी और ब्रह्मचारी भी संसार त्यागते हैं लेकिन रमेश को कोई भ्रम नहीं था, क्योंकि वह पहले ही फोन पर यह सूचना

प्राप्त कर चुका था कि नाना अब नहीं रहे, उनका निधन हो गया है।

रमेश ने कहा-

"मामा! शवदाह में मैं भी भाग लूँगा। अभी आ रहा हूँ।"

मोहितलाल बोले-

"बच्चा! अभी आने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राण छूटने के बाद उन्हें ब्रह्मनाल में रखा जा चुका है। हमारे यहाँ मृत्यु के पश्चात शव को ब्रह्मनाल में रखने की परंपरा है। ब्रह्मनाल का अर्थ है शरीर से निकलती आत्मा को ब्रह्म से एकाकार करने की प्रक्रिया।'"

रमेश ने पूछा-

"तो फिर मुझे क्या करना चाहिए?"

मोहितलाल ने समझाते हुए कहा-

"बच्चा! हमारे समाज में मृत्यु के बाद शव को पहले ब्रह्मनाल में रखा जाता है और उसके पश्चात श्मशान में दहन किया जाता है। इस प्रक्रिया को मृत्यु के प्रथम चरण का समापन माना जाता है। जब यह हो ही चुका है, तो बिना कारण अपने महत्वपूर्ण कार्य छोड़कर यहाँ आने की क्या आवश्यकता है?"

कामों के भी अनेक रूप होते हैं। यहाँ चर्चा 'महत्वपूर्ण काम' की हो रही है। कहने को तो हर कार्य, कार्य ही होता है, लेकिन उनके बीच में अंतर भी होता है। समाज में प्रायः 'बड़ा काम' और 'छोटा काम' जैसे भेद किए जाते हैं। लोग कहते भी हैं और मानते भी हैं कि बड़े कार्य के लिए छोटे कार्य को छोड़ देना उचित होता है परंतु यहाँ जिस काम की बात हो रही है, वह किसी सामान्य दायित्व की नहीं बल्कि मृत शरीर से जुड़ी एक सांस्कृतिक और धार्मिक प्रक्रिया की है।

रमेश ने शांत स्वर में पूछा-

"अगली प्रक्रिया क्या होगी?"

महाभारत के नायक अर्जुन जैसे कृष्ण के सामने अज्ञान और

असमंजस की स्थिति में खड़े थे, वैसे ही रमेश भी अपने जीवन के महाभारत में मामा के सामने अनभिज्ञ और जिज्ञासु मुद्रा में खड़ा है। फिर भी चार वर्ष का मेडिकल छात्र होने के नाते, रमेश इतना अवश्य समझ चुका है कि मनुष्य का जीवन एकांगी नहीं होता। बहुआंगी, संतुलित जीवन ही अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक होता है। यदि जीवन के किसी एक पक्ष की सामर्थ्य कम भी हो जाए, तब भी सामाजिक जीवन अपनी गति से चलता रहता है। मनुष्य समाज के बिना जी नहीं सकता।

यह कहना अलग बात है कि ऋषि-मुनियों ने हिमालय की गुफाओं में कैसे जीवन बिताया। जैसे हर व्यक्ति अपनी तरह जीता है, वैसे ही सबके मार्ग भी अलग-अलग होते हैं। कृष्ण कब अर्जुन बन जाते हैं और कब संचालनकर्ता की भूमिका निभाते हैं, यह बात शायद अर्जुन के अतिरिक्त कोई और समझ भी नहीं सकता।

वैसे यह समझ पाना भी सरल नहीं होता, क्योंकि हम देखते हैं कि महीनोंतक गीता का प्रवचन देने वाले कुछ लोग स्वयं का जीवन ही व्यवस्थित नहीं रख पाते। तब यदि प्रवचन सुनने वाले का जीवन भी अव्यवस्थित न हो, तो यह स्वाभाविक कैसे माना जाए?

मोहितलाल बोले-

"बच्चा! कहने को तो अब मृतात्मा की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। बाकी काम हम स्वयं संभाल लेंगे।"

"हम स्वयं संभाल लेंगे" -यह सुनकर रमेश का मन चौंक उठा। उसका चौंकना स्वाभाविक था, क्योंकि वह नाना के दाह संस्कार की प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं हो सका था। अब यदि आगे की शेष प्रक्रियाओं में भी वह भाग नहीं ले पाया, तो नाना और नाती का संबंध क्या शेष रह जाएगा? वह भी तब, जब रमेश का जन्म ही नाना के घर में हुआ था।

रमेश ने पूछा-

"तो फिर मैं कैसे आ पाऊँगा?"

मोहितलाल ने उत्तर दिया- "बच्चा! तुम भांजे हो, इसलिए ननिहाल

का रास्ता तुम्हारे लिए बंद नहीं है। एक काम करते हुए भी, कभी-कभी काम के बीच से कोई काम अकेले निपटाया जा सकता है और कुछ काम ऐसे भी होते हैं जो अकेले पूरे नहीं हो सकते।"

अपनी दुविधा स्पष्ट होते देख रमेश बोला-

"तो फिर?"

मोहितलाल ने उत्तर दिया-

"तो फिर क्या? आज से लेकर दसवें दिन से पहलेतक का सारा काम हम अकेले ही संभाल लेंगे। तुम नवमे दिन, अर्थात नख-केश के दिन से एक दिन पहले आ जाना और यज्ञ कर्म समाप्त होते ही लौट जाना।"

रमेश बोला- "बहुत अच्छा।"

वैसे रमेश के मन में यह बात भी थी कि भले ही वह स्वयं बाहर रहता है, उसकी माँ तो जीवित रहते हुए ही नाना से मिलने गई थी। वह श्राद्धकर्म और सत्यनारायण भगवान की पूजा के पूर्ण होनेतक वहीं रहेगी। इसलिए अपने हिस्से की जितनी भागीदारी आवश्यक थी, वह तो हो ही रही है।

आठ दिनों के भीतर, अर्थात ननिहाल जाने से पहले, रमेश ने अपने जीवन की गति और व्यवस्था को इस प्रकार सुसंगठित कर लिया कि न तो इन आठ दिनों की दिनचर्या में कोई बाधा आई और न ही उन आगामी आठ दिनों में, जिनमें वह अनुपस्थित रहने वाला था। यही तो संतुलित जीवन-गति कहलाती है।

नाना की मृत्यु के नवम दिन, समय पर रमेश नाना के गाँव पहुँच गया। यह समझना ठीक नहीं होगा कि नाना के गाँव पहुँचना किसी खेल में शून्य पर आउट हो जाने जैसा था। नाना का गाँव केवल एक भौगोलिक स्थान नहीं था, वह नाना का जीवन और उनका विस्तृत पारिवारिक वृत्त था, जो आँखों के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी, नाना से नातीतक एक ही धारा में प्रवाहित होता रहा है।

रमेश को देखते ही मोहितलाल बोले- "बच्चा! तुम्हें देखते ही मन

हल्का हो गया।"

रमेश अबतक सामाजिक जीवन से लगभग अनभिज्ञ ही रहा था। यहाँ 'सामाजिक जीवन' का आशय गाँव और समुदाय से है, न कि उसके अपने मित्रोंतक सीमित संसार से। अबतक रमेश का जीवन जिस परिवेश में बीता था, वह छल-कपट से दूर, सरल और संयमित था। इसी कारण उसका स्वभाव भी सहज और निष्कलुष बन गया था।

रमेश बोला-

"मामा! जिस काम के लिए आया हूँ, उसमें मैं पूरी तरह अनजान हूँ। हाँ, कानों से कुछ सुना है और आँखों से थोड़ा-बहुत देखा भी हूँ, लेकिन व्यावहारिक रूप से यह मेरा पहला अनुभव है। इसलिए जो प्रक्रियाएँ अबतक हो चुकी हैं, उसे छोड़कर आगे की सारी बातों से मुझे अवगत करायें।"

पिता की मृत्यु के बाद भी मोहितलाल इतने व्याकुल नहीं थे कि वे परिस्थिति के अनुरूप स्वयं को ढाल न सकें। वे दसवें दिन से शुरू होने वाली विधियों की ओर संकेत करते हुए बोले-

"बच्चा! कल नख-केश है। कल से श्राद्धकर्म की प्रक्रिया आरंभ हो जाएगी। वैसे तुम यहीं रहोगे, सब देखोगे और सुनोगे भी।"

मोहितलाल ने अपने स्तर पर स्वयं को संयमित रखा। वे समझते थे कि समाज में व्याप्त अनेक प्रकार के आचरण और रूढ़ियाँ एक होनहार युवक, जैसे रमेश को मानसिक द्वंद्व में डाल सकती हैं। इसलिए उन्होंने अपनी बातों को संक्षिप्त और सहज बनाए रखा, ताकि रमेश किसी अनावश्यक उलझन में न फँसे।

उधर, रमेश के मन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण सक्रिय था। वह अपने विचारों को स्पष्ट रूप से समाज के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता था, पर ऐसा कोई उपयुक्त अवसर उपस्थित नहीं हुआ। उसके मन में यह भी चल रहा था कि भोजन से उत्पन्न तत्व, उनसे बनने वाले रासायनिक यौगिक, अणु-परमाणुओं में संचित ऊर्जा और उसका मस्तिष्कतक पहुँचकर विद्युत-धारा

की तरह प्रवाहित होना, जैसे कई विचार लगातार आ-जा रहे थे। फिर भी वह जानता था कि इस समय जो कार्य सामने है, उसे प्राथमिकता देना ही उचित है।

रमेश बोला-

"बहुत अच्छा।"

रमेश के मुँह से 'बहुत अच्छा' तो निकल गया, पर मोहितलाल के मन में यह बात खटक गई कि किसी होनहार युवक को किसी महत्वपूर्ण कार्य से एकाएक मुँह मोड़ लेने देना कहाँतक उचित है। अभी तो उनका अपना कार्य कल से शुरू होना है। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे श्राद्धकर्म की प्रक्रियाएँ भी क्रमशः आगे बढ़ती जाएँगी। कभी घी घना होगा, कभी मुट्ठी चना और कभी वह भी मना हो जाएगा। यह सब तो चलता ही रहता है लेकिन जब सामने कोई तात्कालिक कार्य नहीं है, तो क्यों न विचार-विमर्श को थोड़ा आगे बढ़ाया जाए।

मोहितलाल बोले-

"बच्चा! जो काम सामने है, वह जीवन का विषम काम है।"

रमेश को न तो उस काम का पूर्ण अर्थ समझ में आया और न ही 'विषम' शब्द से वह परिचित था। इसका कारण यह था कि विभिन्न भाषाओं के प्रभाव में बहते हुए वह अपनी मातृभाषा के कुछ विशुद्ध शब्दों से धीरे-धीरे दूर होता गया था।

रमेश ने पूछा-

"मामा, 'विषम काम' क्या होता है?"

मोहितलाल बोले-

"बच्चा! जीवन में कुछ काम ऐसे होते हैं जो रोजमर्रा के जीवन से जुड़े होते हैं। उनका अभ्यास इतना स्वाभाविक हो जाता है कि वे समय आने पर बिना सोचे-समझे अपने आप संपन्न हो जाते हैं। फिर कुछ काम ऐसे होते हैं जो हर दिन नहीं, पर जीवन में कई बार आते हैं और कुछ काम ऐसे

भी होते हैं जो जीवन में बहुत कम, शायद एक-दो बार ही आते हैं। जो काम कभी-कभी ही आते हैं, वे थोड़े अधिक 'विषम' होते हैं और जो बार-बार आते हैं, वे उनसे कुछ कम 'विषम' होते हैं।"

मोहितलाल की बातों को मानो कार्बन कॉपी की तरह ग्रहण करते हुए रमेश ने पूछा-

"तो फिर 'विषम' 'सम' कैसे होगा?"

मोहितलाल मुस्कराए और बोले-

"बच्चा! जैसे समुद्र होता है, वैसे ही समाज भी होता है। समुद्र में जैसे अनेक प्रकार के जीव-जंतु रहते हैं, वैसे ही समाज में भी अनेक प्रकार के लोग होते हैं। लोग ही समाज और जीवन को 'विषम' बनाता है और 'सम' भी बनाता है।" ❑

मुक्ति

☰

भाइयों और बंधुओं! कहानी कहने से पहले एक विचार स्पष्ट करना चाहता हूँ। विचार यह है कि 'बाल कहानी' किसे कहा जाए? अब प्रश्न उठता है कि पहले 'बाल' को ही स्पष्ट किया जाए, तभी उसकी कहानी पर विचार किया जायेगा।

हमारे पूर्वजों ने जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया था, जिनमें एक अवस्था बाल्यकाल की भी मानी गई है। उनके अनुसार, जीवन की औसत आयु सौ वर्ष मानी जाती थी, जिसके आधार पर हर अवस्था लगभग पच्चीस वर्ष की निर्धारित की गई। यह उनका अपना विचार था, उनका जीवन और उनकी सीमाएँ थीं परंतु आज के परिवेश में जीवन का शिखर और पतन जिस प्रकार अनिश्चित हो गए हैं, वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि शिखर कब आएगा और पतन कब होगा? आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि लोग कच्ची अमिया की तरह पच्चीस वर्ष से पहले ही डेरा-डंडा उठाकर संसार से विदा हो जाते हैं।

जो होना है, वह तो होता रहेगा, पर 'बाल कहानी' सुनने से पहले यह तय करना आवश्यक है कि 'बालक' की सीमा क्या हो? यह परंपरागत विचार अवश्य है, पर यह मान लेना कि केवल परंपरा से सब कुछ तय हो जाएगा, यह भी उचित नहीं है। यह भी देखना होगा कि उम्र के साथ बुद्धि और समझ भी विकसित होती है या नहीं। ऐसे में यदि कोई व्यक्ति साठ वर्ष की आयु पार करने के बाद भी सौतक की गिनती नहीं कर पाता, तो वह कहाँ ठहरेगा? और वहीं दूसरी ओर, पच्चीस वर्ष की आयु में कोई कुशल इंजीनियर अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, जबकि कुछ लोग चालीस या

पचास की उम्रतक भी दिशाहीन जीवन जीते रहते हैं।

इसलिए केवल उम्र के आधार पर किसी को किसी एक सिरे पर बैठा देना, स्वयं मन स्वीकार नहीं करता।

ऊपर से दुनिया का खेल भी अजीब है। प्रकृति तो अपनी प्रकृति में ही रहती है। वह कभी चिंतन में डूबे महादेव की तरह शांत और स्थिर दिखाई देती है, तो कभी तांडव नृत्य करती हुई विकराल रूप ले लेती है। इसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति आठ फीट लंबा होता है, तो कोई मात्र डेढ़ फीट का...!

तेइस वर्ष का रवीन्द्र एक शोधार्थी है। उसका विवाह अबतक नहीं हुआ है। यह निर्णय उसने स्वयं लिया है या यह उसके पिता की इच्छा है, यह तो तभी स्पष्ट हो सकेगा जब रवीन्द्र स्वयं अपनी बात रखेगा। आज का परिवेश भी कम जटिल नहीं है। एक ओर जाति और संप्रदाय का जाल लगातार फैलता जा रहा है, वहीं दूसरी ओर दहेज जैसी सामाजिक बुराइयाँ दूल्हों की उम्र बढ़ाती चली जा रही हैं। कहीं नकद रूपये का प्रश्न है, कहीं जातिगत आग्रह है, तो कहीं धार्मिक सीमाएँ।

इन सबके बीच, रवीन्द्र एक ऐसा शोधार्थी है जिसने अपने शोध की शुरुआत पूरी तरह से अपनी परिश्रम और संकल्प से की है। उसने अपने पिता दयानन्द से विवाह को लेकर एक समझौता कर रखा है। दयानन्द जीवन की पहली अवस्था को ब्रह्मचर्य के रूप में देखते हैं और इसी कारण उन्होंने बेटे के विवाह को अभी स्थगित रखा है।

फिर भी यह विचार उनके मन में बना रहता है कि जीवन को स्वतंत्र रूप से जी लेना कोई बच्चों का खेल नहीं है। जैसे पुत्र और पुत्री का भार माता-पिता पर रहता है, वैसे ही समय आने पर माता-पिता का दायित्व भी पुत्र और पुत्री पर आ जाता है। जब पुत्र या पुत्री जीवन की पारिवारिक अवस्था में प्रवेश करते हैं, तभी माता-पिता को मानसिक शांति मिलती है। इसी कारण विवाह की एक उचित आयु सीमा उन्होंने तय कर रखी है। इसी सोच के तहत, उनके मन में रवीन्द्र के लिए एक प्रकार का ऋणभाव भी है।

भले ही रवीन्द्र को अपने अनुसार जीवन की दिशा चुनने का अवसर न मिला हो। यहाँ 'अपने अनुसार' से तात्पर्य है कि वह अपने विचारों और इच्छाओं के अनुसार जीवन को रच सके, चाहे वह पिता की इच्छा से भिन्न ही क्यों न हो।

रवीन्द्र समाज के चारों ओर के परिवेश को देख रहा है और यह समझने का प्रयास कर रहा है कि पति-पत्नी के बीच जीवन-संगिनी का स्वरूप क्या होता है? समाज में एक ओर उच्च कोटि के वैज्ञानिक, समाजशास्त्री, डॉक्टर, वकील और इंजीनियर जैसे पेशेवर लोग हैं और दूसरी ओर उनकी पत्नियाँ शिक्षा से वंचित, पूरी तरह निरक्षर भी हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में जीवन में समरसता बनाए रखना सहज नहीं होता।

वैसे सामंजस्य असंभव नहीं है, लेकिन यह कास के फूल की तरह हल्का भी नहीं होता कि नदी के किनारे रहते हुए, केवल हवा के सहारे एक देश से उड़कर दूसरे और तीसरे देशतक पहुँच जाए और वहाँ अपना वंश बढ़ा ले। भले ही अनुकूल मौसम न हो, तो वंश वृद्धि न हो सके। यह विषय अलग है।

हम यह देख रहे हैं कि कैसे अबोध और सबोध युवा राष्ट्रीय स्तर से अंतरराष्ट्रीय स्तरतक पहुँच रहे हैं? यह परिवर्तन किस प्रकार हो रहा है? क्रिकेट का खेल आज पूरी दुनिया में फैल चुका है। हम देखते हैं कि एक देश का मुकाबला दूसरे देश से लगातार होता रहता है। खेल खेले जाते हैं, पर कब मनुष्य जीवन को खेल समझने लगता है और कब स्वयं खिलौना बनकर आकाश में उड़ने लगता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है।

एक समय था जब गाँवों में मोबाइल फोन नहीं थे। कई गाँव ऐसे थे जहाँ एक भी मोबाइल नहीं होता था। अब स्थिति यह हो गई है कि गाँवों में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक परिवार और उसके प्रत्येक सदस्य के हाथ में सेवनजी मोबाइल आ चुके हैं।

गाँवों में खेल और खिलाड़ियों के प्रति झुकाव भी अब अलग-अलग हो गया है। कोई किसी एक खिलाड़ी का अंधसमर्थक है, तो कोई किसी

दूसरे का। कोई एक देश के साथ खड़ा है, तो कोई दूसरे देश के। हर समय कहीं न कहीं खेल चल रहे होते हैं और किसी की हार या जीत होती रहती है। समर्थकों के बीच बहस होती है, जो कभी-कभी झगड़े में भी बदल जाती है। यह अच्छा है कि आज दंड व्यवस्था और नकद जुर्माने की व्यवस्था के कारण झगड़े जल्दी सुलझ जाते हैं। वरना आजकल लोगों के विचार इतने अंतरराष्ट्रीय हो गए हैं कि कभी भी घर या गाँव में वैश्विक स्तर के विवाद खड़े हो सकते हैं।

हम यह भी देख रहे हैं कि देश में एक ओर अस्सी करोड़ से अधिक लोग ऐसे हैं जो मुफ्त अनाज पर निर्भर हैं। वे वस्त्रहीन हैं, घर-विहीन हैं और शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से भी वंचित हैं। दूसरी ओर, यही देश अब विश्व की तीसरी सबसे बड़ी शक्ति बनने की दहलीज पर खड़ा है। केवल वह निर्णायक क्षण अबतक आया नहीं है।

अपने जीवन को थोड़ा आगे बढ़ाते ही रवीन्द्र के सामने समाज का नग्न चेहरा स्पष्ट दिखाई देने लगा। 'नग्न' शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं: पहला- निष्पक्ष रूप; दूसरा- इज्जतहीन चेहरा; और तीसरा- छलपूर्ण या कुटिल चेहरा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रवीन्द्र ने समाज को निष्पक्ष चेहरे के रूप में देखा। उसने अपने आप को भी देखा और यह समझा कि जिस समाज में बाल विवाह और कम उम्र में शादी की परंपरा रही है, उसी समाज में वह तेइस वर्ष की आयुतक अविवाहित रहा है। ऐसी स्थिति को किस रूप में देखा जाए? क्या यह समाज की प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध है? क्या वह समाज की दृष्टि में दोषी बन गया है?

यह बात अलग है कि माता-पिता अपने जीवन में यह चाहते हैं कि वे अपने संतान के दायित्वों से मुक्त होकर जीवन के शेष समय को निश्चिंतता और संतोष के साथ जी सकें। वे यह भावना कभी-कभी प्रकट भी करते हैं कि यदि जीवन की समस्त जिम्मेदारियों को अपने हाथों पूर्ण न कर सकें, तो ऐसे अधूरे जीवन से मुक्ति ही बेहतर है।

यह भी कहा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति अपने जीवन और

संसार को ध्यान से देखता है, तब किसी के मन में मोह उत्पन्न होता है और किसी के भीतर वैराग्य का भाव। यही तो जीवन का द्वंद्व है, जिसे 'राग' और 'विराग' के रूप में समझा जाता है। एक ओर संघर्ष और विरोध होता है, तो दूसरी ओर मेल और अपनत्व। यही संसार की सच्चाई है।

रवीन्द्र का इन सब बातों से सीधा संबंध नहीं था लेकिन घर से निकलते समय उसके मन में यह विचार दृढ़ हो गया कि अपने पिता के साथ किया गया विवाह संबंधी समझौता उसके जीवन के लिए उपयुक्त है।

जब रवीन्द्र बी. ए. की पढ़ाई कर रहा था, तभी से विवाह का विचार उसके मन में आया था। माता-पिता के मन में भी यह चिंता घर कर गई थी, और साथ ही समाज में भी इस विषय पर चर्चा शुरू हो गई थी। इन सब बातों के बीच रवीन्द्र के भीतर यह विचार फिर से जागा कि राग और द्वेष के बीच ही दुनिया भी है और हम स्वयं भी। 'राग' का अर्थ है प्रेम और स्नेह, जो धीरे-धीरे बढ़कर 'अनुराग' बनता है और अंततः विराग की अवस्था को भी जन्म देता है। दूसरी ओर 'द्वेष' एक नकारात्मक भावना है जो बिना किसी विशेष कारण के भी उत्पन्न हो सकती है और व्यवहार में दूसरों को नुकसान पहुँचाने का कारण बन जाती है।

इसी क्रम में यह बात भी अजीब लगती है और कभी-कभी आश्चर्यजनक भी प्रतीत होती है कि समय मिलने पर मनुष्य एक-दूसरे के प्रति बदल सकता है। आज जो व्यक्ति सबसे प्रिय है, यदि कोई उन्माद उत्पन्न हो जाए– चाहे वह जाति के आधार पर हो, संप्रदाय के कारण हो, सामाजिक ऊँच-नीच के चलते हो या कर्म को लेकर हो तो वही प्रिय व्यक्ति सबसे अप्रिय बन सकता है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रायः होता है।

हम देखते हैं कि गर्मी के मौसम में पूर्वा और पछुआ हवाएँ कितनी सुखद लगती हैं, पर वही हवाएँ जब पूस और माघ की कड़ाके की ठंड में चलती हैं, तो असहनीय प्रतीत होती हैं।

इसी तरह आगे बढ़कर देखें, तो अंगुलिमाल एक डाकू था, डकैती

उसकी स्वभावगत प्रवृत्ति थी, पर जब उसने बुद्धदेव का आश्रय लिया, तो वह एक महान भक्त बन गया। वह इतना प्रतिष्ठित हो गया कि ढाई हजार वर्षों के बाद भी उसका नाम लिया जाता है और आज भी लोग अपने घर-परिवार के भटके हुए बच्चों को उसी उदाहरण से सीख देने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि भी पहले डाकू थे, पर बाद में उन्होंने राम को आत्मसात किया और एक महान ऋषि बन गए। जब यह सब संभव है, तो फिर ऐसा क्या शेष रह जाता है जिसके लिए लालायित रहना चाहिए?

रवीन्द्र, जो बचपन से ही अध्ययन और मनन में रत रहा है, इन विचारों के जाल में उलझ गया। उसके भीतर एक क्षण के लिए एक चमक फूटी, जैसे अंधकार में जुगनू की चमक अचानक प्रकट हो जाए। उस प्रकाश के साथ ही जैसे इतिहास सामने आ खड़ा हुआ। यह वही इतिहास था जिसे हम सभी जानते हैं। हमारे पूर्वज, ऋषि-मुनि, जिनके विषय में कहा जाता है कि वे दस-दस हजार वर्षोंतक जीवित रहे। वे वास्तव में इतने लंबे समयतक जीवित थे या आज भी कहीं किसी रूप में विद्यमान हैं, यह हम प्रत्यक्षतः नहीं जान सकते पर उस क्षण रवीन्द्र का मन ठहर गया, उसके विचार स्थिर हो गए और उसीके साथ उसकी चेतना भी सजग हो उठी। उसे यह बोध हुआ कि आज भी समाज का वही मूल स्वरूप मौजूद है। एक ही समाज में भूखे और नंगे भी हैं और ज्ञानी-महाज्ञानी भी। रागी भी हैं और विरागी भी। इसीलिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं को पहचाने और अपने भीतर झाँककर अपने अस्तित्व का परिचय पाए।

जिस प्रकार गाँव गाँव होता है और समाज समाज होता है, उसी प्रकार गाँव भी समाज होता है और समाज भी गाँव के समान होता है। समाज में भागवत कहानी की परंपरा कोई नई बात नहीं है बल्कि यह बहुत पहले से चलती आ रही है। यह परंपरा सात दिन, पंद्रह दिन या एक महीने के संकल्प के साथ संपन्न होती रही है। जिस प्रकार भागवत कहानी की परंपरा है, उसी प्रकार राम-कहानी और रामायण से जुड़ी कहानी भी निरंतर होती रही हैं। इसी तरह कीर्तन और भजन की भी स्थायी परंपरा बनी हुई है। चाहे किसी को इनमें रुचि हो या न हो, पर परंपरा तो चलती ही रहती है।

इन धार्मिक परंपराओं के क्रम में दो प्रमुख धाराएँ उभरकर सामने आती हैं। एक प्रकार का कीर्तन वह होता है जिसमें कोई एक कीर्तनकार वाद्य यंत्रों के साथ खड़ा होकर प्रवचन करता है और पंक्तिबद्ध होकर कीर्तन भी गाता है। दूसरा प्रकार वह है जिसमें किसी देवस्थान या किसी घर के दरवाजे पर सामूहिक रूप से नाम-स्मरण चलता है जो चौबीस घंटे लगातार, अर्थात दिन-रात, चलता रहता है। कहीं यह तीन दिनतक चलता है, कहीं सात दिन, पंद्रह दिन या महीने भरतक भी निर्बाध चलता है। साथ ही कहानी-वाचक द्वारा प्रवचन के साथ-साथ भजन, कीर्तन और नाम धुन का गायन भी निरंतर होता रहता है।

यह मानना उचित नहीं है कि जीवन केवल संतान उत्पन्न करने और उनके पालन-पोषणतक ही सीमित है या केवल लंबी उम्र की कामनातक ही सीमित है। भागवत कहानी और रामायण के साथ-साथ शतचंडी यज्ञ जैसे अनेक धार्मिक आयोजन भी होते हैं, जो चौबीस घंटे से लेकर एक महीनेतक चलते हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। जिस देश की धरती पर अन्य किसी भी देश से अधिक देवस्थान हैं, जहाँ सबसे अधिक पूजा-पाठ और धार्मिक आयोजन होते हैं, उसी देश में छल-प्रपंच करने वाले और आपराधिक प्रवृत्ति के लोग भी अन्य देशों की तुलना में अधिक क्यों पाए जाते हैं?

इन्हीं विचारों के बीच रवीन्द्र का मन एकाएक जगधारी चाचा की ओर चला गया। जगधारी चाचा की चर्चा उसने अपने पिता के मुख से सुनी थी। उन्होंने बताया था कि गाँव में यदि कोई उचितवक्ता है, तो वह केवल जगधारी चाचा ही हैं।

जगधारी चाचा ने अपने जीवन को उस सीमा पर बाँधकर रखा है, जहाँ मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। उनके लिए जीवन एक सघन अनुभव के रूप में उपस्थित है। इसी सघनता में स्वतंत्र होकर उन्होंने न केवल अपने जीवन की रूपरेखा गढ़ी है बल्कि जिसे हम जीवन

कहते हैं, उसे ठीक से समझते हुए अपनी सीमाओं की रक्षा भी की है। यही उनका जीवन है और यही उनके लिए मुक्ति का मार्ग भी।

आयु के अनुसार जगधारी चाचा अब जीवन के अंतिम पड़ाव पर पहुँच चुके हैं, पर उनका जीवन उस तरह से नहीं बीता है जैसा समाज में वृद्धावस्था को लेकर आमतौर पर गढ़ा जाता है।

रवीन्द्र जब जगधारी चाचा के यहाँ पहुँचा, तो पास खड़े रवीन्द्र को देखकर जगधारी चाचा ने पूछा-

"बच्चा! उम्र हो जाने पर आँखों में धुंधलापन आ ही जाती है। पहले अपना परिचय दो कि तुम कौन हो और क्या चाहते हो?"

वैसे रवीन्द्र और जगधारी चाचा की कभी भेंट नहीं हुई थी, इसलिए दोनों एक-दूसरे से अनजान थे। रवीन्द्र का स्वभाव अन्वेषणशील था, इसलिए "तुम कौन हो और क्या चाहते हो" जैसे सवाल को सुनकर भी वह उग्र नहीं हुआ। उसने शांत मन से उत्तर दिया-

"चाचा! मेरा भी जन्म इसी समाज में हुआ है। आप मुझे इसलिए नहीं पहचानते क्योंकि मैं गाँव में नहीं रहा, स्कूल और कॉलेज की पढ़ाई में लगा रहा। एम. ए. करने के बाद अब मैं अनुसंधान करना चाहता हूँ।"

वैसे तो जगधारी चाचा का जीवन जितना सीधा दिखाई देता है, उनकी सोच उतनी ही सरल नहीं है। इसका कारण यह है कि उन्होंने जीवन के सीधे और टेढ़े, दोनों रास्तों को परखकर देखा है। उन्होंने रवीन्द्र को पहचान लिया कि वह एक नवयुवक कर्मयोगी है। इसलिए पहले स्वयं गंगा-स्नान करना आवश्यक है, तभी दूसरे को स्नान के लाभ की बात कही जा सकती है।

निश्चल विचारों में डूबे हुए जगधारी चाचा बोले-

"बच्चा! रामायण का प्रवचन करना ही मेरी जीविका है। तुम देख ही रहे हो कि राम-नाम की लूट मची हुई है। जिसकी जितनी क्षमता है, वह उतनी ही लूट लेता है लेकिन इससे अलग, मैं तुममें समाज के एक कर्मशील पुरुष को देख रहा हूँ। इसी कारण मेरे मन में तुम्हारे प्रति अपार श्रद्धा उत्पन्न

हुई है।"

जैसे जेठ और बैशाख की तपती धूप में रास्ता चलता यात्री किसी घने वृक्ष की छाया में विश्राम लेकर तृप्त होता है और फिर अगली यात्रा की दिशा में सोचता है, वैसे ही रवीन्द्र भी एकाग्र होकर बोला-

"चाचा! जीवन की मुक्ति क्या है?"

जगधारी चाचा हँसते हुए बोले-

"बच्चा! तुमने मन में बहुत अच्छा विचार उठाया है। दुनिया के सात अरब लोग आज भी उसीकी खोज में लगे हुए हैं अर्थात मुक्ति की खोज में, पर अबतक किसी को उसका ठिकाना नहीं मिला है।"

रवीन्द्र ने पूछा-

"तब फिर?"

जगधारी चाचा बोले-

"बिना किसी चिंता और फिक्र के जीवन को स्वतंत्र रूप से जी लेना ही मुक्ति है। जो श्रम को अपनाकर श्रमिक बनकर जीवन जीता है, वही सच्चे अर्थों में उसे प्राप्त करता है। कबीरदास ने कहा है कि श्रम से ही सब कुछ संभव होता है, बिना श्रम के कुछ भी नहीं मिलता। सीधी उँगली से घी नहीं निकलता।" ❑

गर्त बनी धारा के भीतर

☰

शान्तपुर मिथिला का एक गाँव है। गाँव बहुत पुराना है लेकिन कितना पुराना है, इसका न कोई लिखित इतिहास उपलब्ध है और न ही गाँव में ऐसा कोई व्यक्ति है जो इसके आदि और अंत को जानता हो। यहाँ आदि और अंत का अर्थ यह नहीं है कि गाँव बना और समय के साथ मिट गया। इसका आशय यह है कि गाँव की स्थापना कब हुई और आज वह किस स्थिति में है? वैसे किसी भी गाँव के लोग चाहे जितना प्रयास कर लें, समय की गति के साथ कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। समय की चाल सदा आगे की ओर बढ़ती है पर गाँव और समाज की गति वैसी सरल और रैखिक नहीं होती।

समय की गति का सामान्य अर्थ यह है कि आज पंद्रह दिसंबर दो हजार तेईस ईस्वी है और गणना के अनुसार कल सोलह दिसंबर दो हजार तेईस ईस्वी हो जाएगा परन्तु यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या इतिहास केवल तिथियों और वर्षों की इसी गणनातक सीमित है? क्या समाज, मनुष्य और समय का इतिहास बस इतना ही है? उत्तर स्पष्ट रूप से नहीं है। यह तो ईसा मसीह के नाम पर प्रचलित तिथि व्यवस्था है। मनुष्य का वास्तविक इतिहास, अर्थात मनुष्य रूप में जीवन के आगमन का इतिहास, लाखों वर्षों पुराना है। इसी कारण समय की गति और मनुष्य की अनुभूत गति में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है।

शान्तपुर गाँव में सुमरितलाल दादा रहते हैं, जिनकी आयु एक सौ दस वर्ष है। वे पिछले एक सौ पाँच वर्षों से गाँव और उसके लोगों को निरंतर देखते आ रहे हैं। इस दृष्टि से गाँव का ज्ञात इतिहास फिलहाल इतना ही

माना जाता है। फिर भी सुमरितलाल दादा का मन यह मानने को तैयार नहीं होता कि जैसे सब मरते हैं, वैसे वे भी मरेंगे। इसी कारण आज भी उनके भीतर जीवन को जोड़ते रहने का भाव बना हुआ है।

पिछले तीन दिनों से, हालांकि, सुमरितलाल दादा के मन में एक अलग ही अनुभूति जाग उठी है कि अब उनके जीवन की संध्या आ चुकी है। जो दिन शेष हैं, वही दिन हैं। इस भावना को लेकर उनका मन व्याकुल नहीं है कि उन्होंने जीवन में क्या किया और क्या नहीं किया लेकिन यह प्रश्न उन्हें भीतरतक मथता रहता है कि जीवन भर जो कुछ किया, क्या वह सब मृत्यु के साथ चला जाएगा और यदि सब कुछ चला जाएगा, तो अंत में शेष क्या रह जाएगा?

उनके मन में जैसे-जैसे तरह-तरह के प्रश्न उठते हैं, वैसे-वैसे तरह-तरह के उत्तर भी उभरते हैं लेकिन न तो प्रश्न सुलझते हैं और न ही उत्तर।

दुनिया विशाल है। इतनी विशाल दुनिया को किसी एक व्यक्ति के मन में समेट लेना संभव नहीं है।

अचानक सुमरितलाल दादा का मन मुड़ता है। मन के मुड़ते ही एक विचार आता है कि जब अब विदा लेने का समय निकट है, तो क्यों न अपने देखे-सुने और जिए गए अनुभव परिवार की चौथी पीढ़ी, अपने परपोते को समझा दिए जाए।

सरकारी दफ्तरों में लोग एक-दूसरे को कार्यभार सौंपते हैं लेकिन परिवार ऐसा नहीं होता। परिवार तो वैसा होता है जैसे पानी से भरी बाल्टी में रंग की एक गोली डाल दी जाए और वह धीरे-धीरे पूरे पानी को अपने रंग में रंग दे।

माघ का महीना था। सुमरितलाल दादा धूप में बैठे थे। उन्होंने अपने परपोते रीतलाल को आवाज दी-

"बच्चा! रीतलाल?"

सर्दी का मौसम था। तेरह वर्षीय रीतलाल स्कूल जाने की तैयारी कर रहा था। नौ बजने को थे, इसलिए नहाने को लेकर वह थोड़ा आनाकानी

कर रहा था। फिर भी उसने शरीर के सारे कपड़े, चादर, स्वेटर, गंजी और टोपी निकालकर नहाने की तैयारी कर ही ली थी। तभी दादा की आवाज सुनकर वह आँगन से बोला- "आ रहा हूँ।"

रीतलाल की आवाज सुनकर सुमरितलाल दादा मन ही मन सोचने लगे कि आवाज तो आ गई है, लेकिन शरीर पहुँचने में तो कुछ समय लगेगा ही। इसलिए बार-बार आवाज देना उचित नहीं।

वैसे भी, उचित और अनुचित बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर करता है।

मान लें किसी को हृदयाघात हो जाए और यदि तत्काल सहायता न मिले, तो परिणाम घातक हो सकते हैं। उस समय बार-बार आवाज देना हड़बड़ी नहीं बल्कि आकस्मिक चेतावनी मानी जाएगी, जो पूरी तरह उचित है। हाँ, यह भी सच है कि यदि कोई सामान्य कार्य हो और उसमें थोड़ा समय लग जाए, तो उसे अनुचित भी नहीं कहा जा सकता।

नहाने से पहले रीतलाल दादा के पास पहुँचा। उसके हाथ में तेल की शीशी थी। उसने पूछा- "क्या कहना है?"

रीतलाल के हाथ में तेल की शीशी देखकर सुमरितलाल दादा बोले-

"पहले तेल लगा लेना, फिर नहा लेना। उसके बाद आज स्कूल मत जाना। तुमसे कुछ बात करनी है।"

एक तो परदादा का आदेश, ऊपर से यह कि हाई स्कूलतक के बच्चों के मन में भीतर ही भीतर यह इच्छा बनी रहती है कि किसी दिन स्कूल न जाना पड़े। कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो अगले दिन की छुट्टी की बात सुनते ही भीतर से प्रसन्न हो जाते हैं कि फलाँ दिन स्कूल बंद रहेगा लेकिन रीतलाल वैसा नहीं था। वह नियमित रूप से स्कूल जाता था। इसके अपने व्यक्तिगत कारण थे पर परिवार की निगरानी में रहते हुए वह दूसरों की तरह आनाकानी नहीं करता था।

हर बच्चा मन ही मन कुछ न कुछ करता है। कोई स्कूल के बहाने सिनेमा देखने चला जाता है, कोई होटल में खाने। फिर भी गाँव और समाज

के माता-पिता के विचारों में आज भी यह संस्कार जीवित है कि दूसरे कामों के लिए पैसों का हिसाब रखा जाता है लेकिन पढ़ाई-लिखाई के मामले में बच्चे को मन भरकर दिया जाता है।

इसे ऐसे नहीं समझना चाहिए कि सौ या हजार रुपए बिना गिने दे दिए जाते हैं। पैसा तो गिना जाता है, आँखों से देखा भी जाता है पर रास्ते और दिशा के विचार का मूल्य नहीं आँका जाता। इसलिए जो लेन-देन होता है, वह उँगलियों पर गिनकर नहीं, बल्कि झोले में डालकर कर दिया जाता है।

'स्कूल मत जाना,' यह सुनते ही रीतलाल का मन खुशी से इतना हरा-भरा हो गया कि तेल की शीशी उसके हाथ में ही रह गई। वह बोला-

"नहाना बाद में, पहले आप जो कहना चाहते हैं, वही सुनूँगा।"

आज के समय में जिस तरह के बच्चे गढ़े जा रहे हैं, रीतलाल की बनावट उनसे अलग थी। अब वह दौर नहीं रहा जब दादी-नानी या माँ-मामी किसी की शरीर की बनावट देखकर अच्छे-बुरे का विचार करती थीं। आज तो फैशन देखकर ही सब मोहित हो जाते हैं। न पैर की बनावट देखी जाती है, न रंग-रूप। अब मनुष्य को उसकी बनावट के अनुसार ही अच्छा या बुरा मान लिया जाता है।

सुमरितलाल दादा बोले- "बच्चा! पहले शरीर में तेल लगा लो। जो काम सामने है, पहले उसे सँभाल लो। बाद में, भले अभी न नहाओ, तो भी बाद में नहा लेना।"

रीतलाल अभी अबोध था। दादा की बात मानने से पहले ही वह पूछ बैठा- "दादा, तेल लगाकर नहाना अच्छा है या नहाने के बाद तेल लगाना?"

रीतलाल के इस प्रश्न से जुड़ा जीवन का एक विचार सुमरितलाल दादा के मन में उठ आया। उन्होंने कहा- "बच्चा! पहले दोनों शब्दों को समझ लो। जैसे नहाना अर्थात जल में स्नान कर शुद्ध होना, वैसे ही तेल का अर्थ है स्नेह। दोनों का संबंध जीवन से है।"

बोलते-बोलते सुमरितलाल दादा आगे निकल गए लेकिन जब अपने

ही विचारों की ओर पलटकर देखा, तो समझ में आया कि क्रम उलट गया है। जो क्रिया पहले होनी चाहिए थी, वह बाद में कह दी गई और जो बाद की थी, वह पहले। अब बताओ, जीवन में उलझन होगी कि नहीं?

रीतलाल के प्रश्न पर लौटते हुए सुमरितलाल दादा सोचने लगे कि कैसी भाषा में बात करें जिससे बच्चा सहज रूप से आकर्षित हो जाए। जब ऐसी भाषा आ जाए, तभी तो कृष्ण की तरह मन को मोहित करने का स्वप्न साकार होता है। मोहिनी भी एक औजार है, एक कारीगरी है जिससे दूध को मथा जाता है, मक्खन निकाला जाता है और फिर उससे घी बनता है।

रीतलाल के मन में उलझन बनी हुई थी कि दादा ने ऐसा क्यों कहा कि पहले तेल लगाओ और बाद में चाहो तो नहाना भी मत। उसने पूछा-

“ऐसा क्यों कहा- दादा?”

सुमरितलाल दादा बोले-

“बच्चा! जो पहले हुआ, अर्थात हमारे पहले के समय में, उसे हम थोड़ा-बहुत समझ तो सकते हैं, पर देखा नहीं है और जो जीवन में हम करते आए हैं, उसे न केवल देखा है, बल्कि किया भी है।”

रीतलाल बोला-

“यह तो सबसे अच्छा हुआ, दादा! कि जो कान से सुना, उसे विचार के हाथों करके देखा।”

पोते की बात सुनकर सुमरितलाल दादा की आँखों में शतरंज की गोटी जैसी एक सफल चाल चमक उठी। वह बोले- “बच्चा! हमारे समाज में एक कहावत है कि बूढ़े आदमी को शादी दूसरों के लिए करनी चाहिए और नहाने के बाद तेल कपड़ों के लिए। नहाने से पहले तेल की मालिश करने से तेल शरीर में समा जाता है, पच जाता है लेकिन नहाने के बाद तेल लगाकर तुरंत कपड़े पहन लो, तो खुद ही बताओ, जितना तेल कपड़ा सोखेगा उतना शरीर क्या सोख पाएगा?”

बाल मन वाला रीतलाल दादा की बात के साथ बहते हुए बोला- “हाँ, ऐसा तो नहीं होगा।”

रीतलाल के विचारों की धारा देखकर सुमरितलाल दादा के मन में संतोष जगा। उन्हें लगा कि सोच का प्रवाह सही दिशा में है। जैसे खेत जोतने वाला किसान नहर या नदी में बहते पानी को देखकर अंदाजा लगा लेता है कि ऊँचे खेत भी सींचा सकते हैं, यदि थोड़ा सा पानी पहले रोक लिया जाए। दादा का मन मान गया कि रीतलाल कुछ है तो अपने ही वंश का है, वही भविष्य का फूल और फल है। इसलिए उसे ठीक से सींचना चाहिए।

सुमरितलाल दादा बोले-

“बच्चा रीत! इतने दिनोंतक मेरा मन नहीं मानता था कि मैं भी दूसरों की तरह मरूँगा। इसी वजह से अपने मन की बात तुम लोगों से नहीं कही लेकिन अब समझ में आने लगा है कि जितने दिन जीना है, उतने ही दिन जीना है।”

बालबोध होते हुए भी, हाई स्कूल का विद्यार्थी होने के कारण, रीतलाल इतना तो समझता ही था कि जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा भी। फिर दादा ऐसी बात क्यों कह रहे हैं? उसने पूछा-

“ऐसा क्यों कहा- दादा?”

सुमरितलाल दादा बोले-

“कान से तो बहुत कुछ सुना है, लेकिन आँखों से यही देखा है कि कोई भी पूरी तरह ठीक-ठाक बैठा या सोया हुआ मर नहीं जाता। कोई न कोई कारण जरूर होता है। अब अगर उन कारणों को समझकर उनसे बचते हुए चलें, तो फिर क्यों मरा जाए?”

दादा की बात सुनकर रीतलाल के मन में द्वंद्व पैदा हो गया। उसने अपनी आँखों से देखा था कि एक विद्यार्थी कॉलेज जा रहा था और पीछे से ट्रक की टक्कर लगी। वह मर गया। वह मरने के लिए तो नहीं निकला था, फिर भी मर गया।

यहाँ यह नहीं मानना चाहिए कि पूर्वजों की वह बात आज भी वैसे ही लागू होती है कि मनुष्य सौ वर्ष जीने का अधिकारी होता है और शताब्दी समारोह मनाकर दुनिया से विदा लेता है। आज के समय में सौ वर्ष से अधिक

जीने वालों की संख्या घट गई है, जबकि युवाओं की मृत्यु का ग्राफ लगातार ऊपर चढ़ रहा है।

यह भी देखा जा रहा है कि चिकित्सा के शिखर पर पहुँच जाने के बावजूद छोटे-छोटे बच्चों के ऑपरेशन हो रहे हैं। उसी तरह कैंसर जैसे रोगों की संख्या भी लगातार बढ़ रही है।

यह सब सुन और समझकर रीतलाल के मन में इतनी उलझन भर गई कि वह भीतर से अकचका गया। अकचकाकर उसने पूछा-

“दादा! आपने मुझे क्यों बुलाया था?”

सुमरितलाल दादा बोले-

“बच्चा! मेरे मन में कुछ विचार हैं। उन्हें तुम्हें समझा देना आत्मा की पुकार है।”

‘आत्मा की पुकार’ सुनते ही रीतलाल के मन में वैसी ही अनुभूति जगी, जैसे पहाड़ से गिरते झरने के जल को देखकर होती है। शीतल, पवित्र और देखने में इतना सुंदर कि बिना प्यास के भी पानी पीने की इच्छा हो जाए। उसी तरह, रीतलाल के भीतर भी एक आकांक्षा जाग उठी।

जैसे कोई भूखा बच्चा माँ की आशा में बार-बार आँख उठाकर देखता है, वैसे ही रीतलाल भी उठकर दादा की ओर देखते हुए बोला-

“आत्मा की पुकार क्या है, दादा?”

अपने सहमे हुए से परपोते को देखकर सुमरितलाल दादा ने मन ही मन आँक लिया कि भूमि में नमी है और बीज के अंकुरण के लिए स्थिति अनुकूल है। ऐसे में यदि सही बीज डाला जाए, तो अंकुरण होगा और धरती के ऊपर आकर वह वृक्ष का रूप अवश्य लेगा।

दादा बोले-

“बच्चा रीत! दुनिया जितनी बड़ी है, उतनी ही वस्तुओं, जातियों और आचार-विचारों से भी भरी हुई है। इसलिए न तो सब कुछ अपना बनाने की जरूरत है और न ही सब कुछ देखकर मन को ललचाने की।”

बीच में रीतलाल ने पूछा-

“किसका लालच? दादा!”

सुमरितलाल दादा बोले-

“बच्चा! तुम भी देखते हो। भले ही अभी ठीक से समझ न पाते हो लेकिन इतना समझ लो कि जैसे जेब में हज़ार रुपये आने पर लाख का लालच पैदा होता है और लाख मिलने पर करोड़ का, वैसे ही करोड़ आने पर अरब का लालच भी पैदा हो जाता है।”

रीतलाल बोला-

“फिर?”

सुमरितलाल दादा बोले-

“इसीलिए तो तुम्हें बुलाया है।”

अबतक रीतलाल के मन में जो भी उथल-पुथल चल रही थी, उसने एक गहरी साँस लेकर अपने भीतर के हलचल को शांत कर लिया। यहाँ साँस की कोई विशेष चर्चा नहीं है, बस इतना समझ लो कि जैसे सुमरितलाल दादा अपने मन में भरे विचार और विकार बाहर निकालकर परपोते को देना चाहते थे, वैसे ही रीतलाल भी उन्हें अपने भीतर रखने के लिए तैयार हो गया।

रीतलाल बोला-

“कहिए।”

सुमरितलाल दादा बोले-

“अमती काँटों की झाड़ी जैसी होती है, बहुत उलझाने वाली। इसलिए उसे छोड़ दो। मनुष्य के पास से हिसाब जोड़ो।”

दादा की बात सुनकर रीतलाल का मन ठिठक गया और वही ठिठकी हुई अनुभूति उसके चेहरे पर भी उतर आई। रीतलाल के बदले हुए चेहरे को देखकर दादा बोले-

“बच्चा! अभी तुम बच्चे हो, इसलिए छोटी-सी बात पर भी मन अटक

जाता है लेकिन कहना भी तुम्हें ही होगा और समझना भी तुम्हें ही होगा।"

हार मानकर रीतलाल बोला-

"कहिए, जो कहना है।"

सुमरितलाल दादा बोले-

"बच्चा! अभी तुम किसी विचार को उसकी जड़ से नहीं समझ पाओगे। इसलिए जो मैं कह रहा हूँ, उसे सीता राम, सीता राम की तरह जपते रहना। जैसे-जैसे उम्र बढ़ेगी, वैसे-वैसे ज्ञान भी बढ़ेगा और ज्ञान का रस भी मिलेगा।"

सहमति में रीतलाल बोला-

"मैं इसे मन की कापी में लिख लेता हूँ, दादा!"

सुमरितलाल दादा बोले-

"बुद्धि और विवेक के साथ जब मनुष्य दुनिया की ओर देखता है, तब उसे समझ में आता है कि जितने मनुष्य हैं, उतनी ही बुद्धियाँ भी हैं लेकिन वे बँटी हुई हैं। इसलिए जैसे जीवन की धारा में भीतर से दरार पड़ती है, वैसे ही विचारों में भी आजतक दरार पड़ती आई है।" ❑

मरने की राह पर

☰

जीवन की अंतिम अवस्था में रामस्वरूप दास के विचार बदल गए। विचार बदलते ही उनके मन में यह बोध जागा कि अबतक वे व्यर्थ ही भटकते रहे। अचानक दृढ़ निश्चय के साथ उनके भीतर यह संकल्प उठा कि वे अब गांव में ही रहेंगे। मरना है तो अपनों के बीच मरेंगे और जीना है तो अपनों के बीच जीएंगे।

यहाँ ‘गांव' का अर्थ केवल भौगोलिक स्थान नहीं बल्कि उसमें बसे परिवारों के समूह से है। इन परिवारों का समाज भी कई रंगों का होता है- जैसे जातीय समूहों का समाज, संप्रदायों का समाज, व्यापारियों का समाज, पढ़े-लिखे लोगों का समाज और साथ ही धनवान तथा गरीबों का समाज भी लेकिन यहाँ आशय उस समाज से है, जो जन्म और मृत्यु जैसे अवसरों पर एकजुट होकर सहयोग करता है। ऐसा ही समाज रामस्वरूप दास के मन में उभरा।

जब से रामस्वरूप दास ने गांव छोड़कर संसार का रास्ता अपनाया, तब से उनके नाम के साथ जुड़ा उपनाम भी बदल गया। गांव में रहते हुए, जन्म से लेकर गांव छोड़ने तक उनका नाम रामस्वरूप मंडल था लेकिन गांव छोड़कर जब वे वैष्णव बने, तब ‘मण्डल’ हट गया और ‘दास’ जुड़ गया। इस तरह वे ‘रामस्वरूप दास’ कहलाने लगे।

रामस्वरूप मण्डल के गाँव छोड़ने का कारण यह था कि जब वे अठारह–उन्नीस वर्ष के थे और उनके माता-पिता भी जीवित थे, तभी आसपास के परोपट्टा क्षेत्र में भूकंप आया था। यहाँ 'पड़ोस' का अर्थ आस-पास के कुछ क्षेत्रों से है।

भूकंप की गूंज दूर-दूर तक सुनाई दी लेकिन जिस तरह धरती हिली, फटी और पाताल का पानी मिट्टी के साथ ऊपर उछला, वह रामपुर जैसे दस कोस के दायरे में ही घटित हुआ। उस समय आज की तरह भूकंप मापने के यंत्र नहीं थे, इसलिए उस दिन के भूकंप का आकलन रिक्टर पैमाने पर नहीं हो सका।

रामपुर में बारह से चौदह आने घर ढह गए और पेड़-पौधे अस्त-व्यस्त हो गए। पूरे इलाके में जो गांव खेती-बाड़ी और बाग-बगीचों से समृद्ध माने जाते थे, वे उजड़ गए। सोलह से अधिक लोग मारे गए और काफी पशुधन भी नष्ट हो गया। हजारों वर्षों से बसता आया यह गांव एकाएक मिटा हुआ-सा प्रतीत होने लगा।

रामस्वरूप मंडल के माता-पिता भी इस आपदा में चल बसे। गांव की स्थिति ऐसी हो गई थी कि हर कोई अपनी पीड़ा में डूबा हुआ था। कोई किसी को देखने या संभालने की स्थिति में नहीं था। घरों और पेड़ों के गिरने से कई लोगों की जान चली गई और कितनों के हाथ-पैर टूटे, सिर फूटे, इसका कोई निश्चित हिसाब नहीं रहा।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि जब मंडल परिवार में बाल विवाह की परंपरा थी अर्थात बचपन में ही बेटे-बेटी का विवाह कर दिया जाता था, तो फिर रामस्वरूप मंडल का विवाह क्यों नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि एक तो वे अपने माता-पिता के अत्यंत प्यारे थे और उनमें आलस्य तथा निश्चिंतता की प्रवृत्ति थी।

दूसरा कारण यह था कि बचपन में गांव में आने वाले भविष्यवक्ता, जो हाथ देखकर भविष्य बताते थे, उन्होंने रामस्वरूप मंडल की हथेली देखकर कह दिया था कि उनका विवाह नहीं होगा और वे बाबा बनेंगे। यहाँ 'बाबा' का अर्थ एक ऐसे अविवाहित व्यक्ति से है, जो साधु या संन्यासी का मार्ग अपना लेता है।

रामस्वरूप के माता-पिता, किसुनलाल और अलोधनी, बेटे की चाल-ढाल और व्यवहार देखकर मन ही मन यह सोचते रहते थे कि ऐसे बच्चे से परिवार नहीं चल पाएगा। ऊपर से जब उन्होंने बाबा बनने की भविष्यवाणी

सुनी, तो वे और भी आश्वस्त हो गए कि जब विवाह का योग ही नहीं है, तो व्यर्थ में उसके पीछे क्यों पड़ें। यह विचार उनके मन में गहराई से बैठ गया।

हालाँकि मन के किसी कोने में एक दूसरा विचार भी पलता रहा कि अधिकांश लोग जवान होने तक, अर्थात बीस-पच्चीस वर्ष की उम्र में, बेटे-बेटी का विवाह कर ही देते हैं, इसलिए कुछ समय और प्रतीक्षा की जाए।

इसी आशा और प्रतीक्षा में रामस्वरूप मंडल अठारह-उन्नीस वर्ष का हो गया। माँ के मन में यह चिंता थोड़ी कम थी लेकिन पिता के मन में यह बात अधिक चुभती थी कि यदि बेटे का विवाह नहीं हुआ तो उनकी मृत्यु के बाद मुखाग्नि कौन देगा?

विवाह की कोई निश्चित आयु सीमा नहीं होती, यह बात रामस्वरूप जानते थे। लोग देखते ही हैं कि अस्सी वर्ष के पुरुष भी विवाह कर लेते हैं, और पचास-साठ वर्ष की स्त्रियाँ भी 'चुमौन' जैसी विवाह पद्धति अपना लेती हैं।

न तो पुरुष पर यह प्रतिबंध रहा है कि वह केवल एक ही स्त्री से विवाह करे और न ही स्त्री पर ऐसा कोई बंधन हमेशा रहा है। जैसे अनेक स्त्रियों से एक पुरुष विवाह करता रहा है, वैसे ही पाँचों पांडवों की एक ही पत्नी द्रौपदी थीं। जहाँ जो हुआ, वह वहीं तक सीमित रहा। इन बातों से रामस्वरूप मंडल को कोई विशेष सरोकार नहीं था।

रामपुर में घर गिरने की घटना के साथ ही रामस्वरूप के माता-पिता की मृत्यु भी घर के मलबे में दबकर हो गई। एक ओर बालबोध रामस्वरूप था और दूसरी ओर उसकी सुस्ती और निष्क्रियता। न गांव के लोग उसके पास आकर कुछ बोले- न कोई देखने वाला आया। उसने स्वयं ही घर में आग लगाई, माता-पिता का दाह संस्कार किया और बिना किसी को बताए चुपचाप गांव छोड़ दिया।

आपदा से आहत रामस्वरूप का मन उसी आवेग में गांव से निकल गया लेकिन वह पहले कभी गांव से बाहर नहीं गया था, इसलिए संसार उसे अंधकार की तरह लगने लगा। जैसे दिन और रात के बीच संसार चलता है, वैसे ही अंधकार और प्रकाश के बीच जीवन भी चलता रहता है। इतना

कहना पर्याप्त है कि अच्छे के साथ रहकर मनुष्य अच्छा बनता है और बुरे के साथ रहकर बुरा भी बन जाता है।

गांव की सीमा पार करते ही रामस्वरूप को अपना अतीत याद आने लगा। उसे दादा का कहा हुआ वचन स्मरण हो आया- "तू बाबा बनेगा।"

संयोग से उसी समय रामपुर के पुनर्निर्माण के लिए बाहर से सहायता आने लगी। उसी क्रम में पाँच साधुओं का एक दल भी गांव की सीमा तक पहुँचा। रामस्वरूप को खड़ा देखकर उनमें से अग्रणी साधु ने उससे पूछा-

"बेटा! तुम्हारा नाम क्या है?"

परिस्थिति से टूटा और पीड़ा से पस्त रामस्वरूप काँपती आवाज़ में बोला-

"बाबा! रामस्वरूप।"

"गांव?"

"रामपुर।"

"चलो, मेरे साथ।"

रामस्वरूप ने असहाय स्वर में कहा- "बाबा, मेरे पास तो अपना कुछ भी नहीं है, फिर रहूँगा कहाँ?"

रामस्वरूप की बात सुनकर साधु सब समझ गए। उन्होंने कहा-

"आज से तुम भी साधु हो।"

उस समय तक रामस्वरूप यह नहीं जानता था कि साधु को ही बाबा भी कहा जाता है। उसके मन में यह भ्रम था कि जब भाग्य रेखा में बाबा बनना लिखा है, तो वह साधु कैसे बन सकता है। उसकी समझ यही थी कि जो साधना करता है, वही साधक बनकर साधु कहलाता है।

रामस्वरूप ने अपनी शर्त रखते हुए कहा- "बाबा, अभी तो साधु बन जाऊँगा, लेकिन मेरी भाग्य रेखा में तो बाबा बनना लिखा है। बाद में छोड़ दूँगा।"

साधु समझ गए कि वह बालबुद्धि है और विपत्ति का मारा भी,

इसलिए भयभीत है। यहाँ यह मानना गलत होगा कि केवल भय ही मनुष्य को कुवृत्ति की ओर ले जाता है। कई बार विचार भी ऐसा करवाता है।

अपनी सामर्थ्य के अनुसार साधुओं के दल ने रामपुर गांव की सहायता की। उसी दिन रामस्वरूप मंडल से वह रामस्वरूप दास बन गया।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। दास प्रथा का भी एक युग रहा है, जब मनुष्य को भी धन-संपत्ति की तरह खरीदा और बेचा जाता था और वह पशु के समान जीवन जीता था लेकिन यहाँ ऐसा कोई संदर्भ नहीं है। रामस्वरूप 'दास' समाज सेवा के व्रत से जुड़ गया था।

साधुओं के साथ रहते हुए रामस्वरूप का जीवन कर्मशील हो गया और उसका रुख काम की ओर मुड़ गया। कर्म से जुड़ते ही उसके जीवन में परिवर्तन की लहर उठी। जैसे-जैसे परिवर्तन होता गया, वैसे-वैसे उसके भीतर दृढ़ता आती गई। जो रामस्वरूप मंडल जीवन से भयभीत था, वही रामस्वरूप दास निर्भयता की दिशा में आगे बढ़ चला।

तीन वर्ष बीतते-बीतते वह जीवन के समय का पूर्ण उपयोग करने लगा।

अपने कर्म में वह इतना रम गया कि संसार की बाकी बातें भूलने लगा। सत्संग तो सत्संग ही होता है। आज के परिवेश में लोगों की दृष्टि में सत्संग का अर्थ सिमट गया है और इतना छोटा हो गया है कि मानो कोई चिड़िया उसे गठरी की तरह चोंच में उठाकर आकाश में उड़ जाए लेकिन यहाँ वह अर्थ नहीं था।

अपने बीते साठ वर्षों के जीवन में, जिनमें बीस वर्ष माता-पिता के आश्रय में बीते थे, रामस्वरूप दास ने जीवन के अनेक खट्टे-मीठे अनुभवों का स्वाद चखा। साधु बाबा का आश्रय पाकर उन्होंने अपने नियमित जीवन को एक नई दिशा दी जिससे उनके भीतर भक्ति-भावना भी जाग उठी।

रामस्वरूप दास जिस गांव से बिछुड़ गए थे, उसी गांव को उन्होंने अपनी मातृभूमि और पितृभूमि मानकर फिर से वहीं बसने का संकल्प कर लिया। संकल्प भी संकल्प ही होता है, जैसे वीर पुरुष छेनी-हथौड़ी से पहाड़

काटकर रास्ता बनाते हैं और जैसे किसान धरती जोतकर अन्नदाता बनता है।

यहाँ यह मानना गलत होगा कि सात अरब लोगों का पेट भरने वाला केवल वही वीर पुरुष है। हर वह व्यक्ति जो अपने संकल्प और कर्म से समाज के लिए कुछ करता है, वह भी उतना ही वीर है।

अबतक के जीवन में रामस्वरूप दास का मन इस बोध पर स्थिर हो चुका था कि न तो कुछ पूरी तरह अपना होता है और न ही पूरी तरह पराया। सब अपने होते हैं और फिर भी कुछ भी संपूर्ण रूप से अपना नहीं होता। इसी भाव के साथ वे गांव लौटे और सबसे पहले उसी स्थान पर पहुंचे, जहां उनका पहले का पारिवारिक संबंध रहा था।

जब गांव अपना हो, तो गांव के सब लोग भी अपने हो जाते हैं। जब सब अपने हो जाते हैं, तो हम भी सबके अपने बन जाते हैं और तब गांव की हर वस्तु भी अपनी लगने लगती है।

इसी बीच उनके मन में यह विचार भी उठा कि किस रूप की भक्ति अपनाकर गांव का भक्त बनकर सेवा में लगा जाए?

दरवाजे पर रामस्वरूप दास को देखकर, चूंकि घर के पुरुष बाहर थे, आंगन से स्त्रियाँ निकलकर बोलीं- "बाबा महाराज, हम हाथ-पैर धोने के लिए लोटे में पानी लाकर देते हैं और घर के लोगों को भी देखकर बुला लाते हैं।"

रामस्वरूप दास के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान उभरी, पर अपनी मर्यादा का ध्यान रखते हुए वे चुपचाप चौकी पर बैठ गए।

कुछ समय बाद रतनलाल वहां पहुँचा। रतनलाल, अशर्फीलाल का बड़ा बेटा था। उस समय अशर्फीलाल गांव से बाहर, बाजार गए हुए थे।

रतनलाल कॉलेज में पढ़ता था और बी. ए. ऑनर्स का विद्यार्थी था। व्यावहारिक रूप से भले ही वह पारिवारिक शिष्टाचार पूरी तरह नहीं जानता था लेकिन कॉलेज जीवन के अनुभव के कारण उसमें औपचारिक शिष्टता स्वाभाविक रूप से आ गई थी।

दरवाजे पर बैठे रामस्वरूप दास को देखकर उसने दोनों हाथ जोड़कर पास आकर चरण स्पर्श किया।

रतनलाल का प्रणाम पाकर रामस्वरूप दास उसी तरह मोहित हो गए, जैसे नारद गोपियों के चरणों की धूल पाकर और कृष्ण के मस्तक का दर्द मिटते देखकर मोहित हो गए थे। रतनलाल को आशीर्वाद देना वे भूल गए और मन ही मन बुदबुदाने लगे-

“बेटा! वैसे तो तुम जवान हो, खड़े भी रह सकते हो। मैं भी इसी गांव का हूं, पर शायद तुम मुझे पहचानते नहीं हो।”

रामस्वरूप दास की यह बात सुनकर रतनलाल ने भी अपनी स्मृति पर जोर डाला, पर कई प्रयासों के बाद भी वह उनकी पूर्व पृष्ठभूमि को पहचान नहीं सका। स्नातक का विद्यार्थी होते हुए भी रतनलाल अभी समाज की उस परत तक नहीं पहुंचा था, जो ऐसी पहचान का आधार बनती है।

निष्कपट भाव से उसने कहा- “बाबा महाराज, आप रास्ते की थकान से आए हैं। पहले कुछ अन्न-जल ग्रहण कर लीजिए, फिर निश्चिंत होकर बातचीत करेंगे।”

रतनलाल की बात सुनकर रामस्वरूप दास सहमत हो गए और कुछ बोले नहीं।

संध्या का समय होते ही रतनलाल भोजन लेकर आया, चौकी पर रख दिया और साथ में दो गिलास तथा एक लोटा पानी भी रख दिया। दोनों साथ बैठकर जलपान करने लगे।

यहाँ ‘संध्या का आहार’ शब्द समय के अनुसार प्रयुक्त हुआ है। हम प्रातः भी जलपान करते हैं और संध्या में भी, पर दोनों की पसंद और आवश्यकता भिन्न होने के कारण एक ही 'जलपान' शब्द का रूपार्थ अलग हो जाता है।

पानी पीकर रामस्वरूप दास बोले- "बेटा! भयभीत होकर चालीस-बयालीस वर्ष पहले मैं गांव से भाग गया था। साधुओं का आश्रय पाकर अब जाकर संसार की जटिल रचना को समझ पाया हूं। इसलिए अब, जब जीवन

मृत्यु की ओर बढ़ रहा है, समाज का भक्त बनने का विचार मन में बोकर फिर गांव और समाज के आश्रय में लौटा हूं।”

अबतक रतनलाल भक्ति का अर्थ केवल भगवान या देवी-देवताओं की पूजा से जोड़ता था और ‘देशभक्त’ या ‘समाजभक्त’ को देश या समाज की सेवा से संबंधित मानता था। इसलिए उसका भ्रमित होना स्वाभाविक था। उसने पूछा-

“समाजभक्त क्या होता है?”

रतनलाल की जिज्ञासा देखकर रामस्वरूप दास बिना कोई भूमिका बांधे बोले-

“बेटा! मनुष्य जन्म लेते ही मृत्यु की राह पकड़ लेता है, क्योंकि मृत्यु एक अटल सत्य है और जीवन उसी दिशा में आगे बढ़ता है।”

रामस्वरूप दास की बात सुनकर रतनलाल का मन डोंगी नाव की तरह डगमगाने लगा। बड़ी नाव तो पटरे जोड़कर बनाई जाती है और आजकल तो लोहे के जहाज भी बनते हैं पर डोंगी लकड़ी को खोदकर बनाई जाती है। वह पानी में अधिक डगमगाती है और उसके डूबने की संभावना भी अधिक होती है।

रतनलाल की स्थिति भांपकर रामस्वरूप दास बोले-

“बेटा! भक्तों का विभाजन नारद ने तीन प्रकार में किया था, पर गीता में श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के भक्त बताए हैं, पहला अर्थार्थी, दूसरा ज्ञानी, तीसरा जिज्ञासु और चौथा आर्त। फिलहाल हम यहीं तक समझें। आगे की बात आगे करेंगे।” ❑

अग्रणी लोग

☰

मिथिला के मध्य क्षेत्र में स्थित 'मिरचैया' एक मध्यम श्रेणी का गाँव है। आकार में मध्यम होने के बावजूद यह गाँव अपने दस कोस के क्षेत्र में एक अग्रणी गाँव माना जाता है।

अब प्रश्न उठता है, मध्यम श्रेणी का गाँव क्या होता है?

जैसे मिथिला के अंचल और आँचर में विभिन्न प्रकार के अनाज और सब्जियाँ उगाई जाती हैं, वैसे ही यहाँ तरह-तरह के फल और फूल भी उगाए जाते हैं। गाँव का रूप और रंग जैसे विविध हो सकते हैं, उसी प्रकार उसका आकार भी अलग-अलग होता है।

अब बात आकार की करें, तो यह समझना आवश्यक है कि गाँव किसी एक साँचे में नहीं ढलते। 'चोरौत' जो सीतामढ़ी जिले का एक गाँव है, जैसे लंबे-चौड़े गाँव भी होते हैं। वहीं नवटोली, जो कमला नदी के किनारे बसा है और पुरर्वास, जो कोसी किनारे स्थित है, जैसे अपेक्षाकृत छोटे गाँव भी होते हैं। इन्हीं सबके बीच मिरचैया का भी अपना विशिष्ट स्थान है।

इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि रागी की रोटी हो या चावल के टूटे दाने, यदि अचार और मिर्च न हो तो स्वाद फीका रह जाता है। मिरचैया के लोगों को खाने की पसंद से विशेष मतलब नहीं है। उन्हें सबसे अधिक लगाव है अपने गाँव से और उसकी सेवा से।

मिरचैया के निवासी भली-भाँति जानते हैं कि ऋषि-मुनियों ने यह यूँ ही नहीं कहा कि जो सेवा करेगा, वही फल पाएगा और जो सेवा नहीं करेगा, वह फल से वंचित रहेगा।

इसी मिरचैया गाँव के एक व्यक्ति हैं मनोहर दादा।

भाई! हम सभी जानते हैं कि चाहे कोई कितना भी बड़ा डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर या वकील क्यों न हो, हर किसी का कार्य एक सीमित दायरे में ही सिमटता है। उसी दायरे के भीतर जब कोई व्यक्ति मन लगाकर सेवा करता है, तो वह साधारण नहीं, एक योगी बन जाता है।

साठ वर्ष के मनोहर बाबा दरवाजे पर अकेले बैठे हुए हैं और मन ही मन पूरे गाँव का ध्यान कर रहे हैं। और भला क्यों न करें?

जहाँ केवल दाढ़ी बढ़ा लेने से कोई स्वयं को बाबा कहलाने लगता है, और कोई शरीर पर विभूति मलकर बाबा बनने का दावा कर देता है, वहाँ मनोहर बाबा का चरित्र इन सबसे बिल्कुल भिन्न है।

खेल-कूद और मदारी जैसे अभ्यासों के कारण वे साठ वर्ष की आयु में भी अपने शरीर को ऐसा साधे हुए हैं कि एक बालयोगी जैसे प्रतीत होते हैं।

चरित्र, अंततः चरित्र ही होता है। कोई उसे गढ़कर बनाता है, तो किसी का चरित्र स्वभाव से ही स्वतः आकार लेता चला जाता है।

दरवाजे पर बैठे मनोहर बाबा गाँव का सामाजिक और ऐतिहासिक हिसाब जोड़ रहे थे। वे सोच रहे थे कि अंधकार में डूबे हुए गाँव को किसने कितना प्रकाश दिया और मिरचैया के लोगों ने अपने गाँव को कितना आगे बढ़ाया?

जब उन्होंने पीछे मुड़कर देखा, तो सबसे पहले उन्हें वही पुरुष स्मरण हुआ जिसने चारों ओर के अलग-अलग गाँवों के लोगों द्वारा भयभीतकर और धमकाकर बलपूर्वक ली जाने वाली वस्तुओं को रोकने का साहस किया था। यह कोई साधारण चोरी नहीं थी, बल्कि गाँव की सामूहिक शक्ति के बल पर अन्याय को रोकने का प्रयास था।

अर्थात, जब मिरचैया गाँव के साथ अन्य गाँवों द्वारा अनुचित व्यवहार किया जाता था, तब उसे रोकने और समाज को एक साझा सोच में बाँधने वाला कोई न कोई सजग पुरुष अवश्य रहा होगा। उनका कोई लिखित

इतिहास भले ही न हो, पर उनका होना सुनिश्चित है।

और जब यह माना जाता है कि पुरुष वंश का उत्तराधिकारी है, तब यह प्रश्न भी उठता है कि यदि पुरुष में पुरुषत्व ही न हो, तो यह कैसी विडंबना होगी?

अब प्रश्न उठता है, क्या पुरुषत्व कोई ऐसी वस्तु है जो हाट-बाजार में बिकती है या रास्तों पर बिखरी पड़ी मिल जाती है?

नहीं, न तो वह रास्तों पर बिखरा है और न ही बाजार में बाँधकर रखा गया है।

बोलते समय हम प्रायः कहते हैं कि सबका कल्याण हो, सबका भला हो, पर क्या हम सचमुच ऐसा चाहते हैं? इसपर विचार करना भी तो हमारा ही दायित्व है।

हम जानते हैं कि वेद, वेद ही होते हैं। वे भलाई की चर्चा जड़ से शिखर तक और शिखर से जड़ तक करते हैं। उसी तरह वे बुराई की पहचान और उसके मार्ग को भी स्पष्ट करते हैं। तो क्या हमें अब स्वयं अपनी ओर नहीं देखना चाहिए?

अकेले दरवाजे पर बैठे मनोहर बाबा का मन भर आया था। भीतर से गहरी साँस लेने की इच्छा जाग रही थी। साँस के तीन प्रकार होते हैं– गहरी, मध्यम और हल्की– लेकिन फिलहाल इस पर चर्चा आवश्यक नहीं है।

संयोगवश, उसी समय सोलह वर्षीय पोता लालदेव कॉलेज से घर लौटा। मनोहर बाबा उसे अपने ही रंग में रंगना चाहते थे। इसका अर्थ यह था कि वह जीवन के मुख्य मार्ग पर समानता और संतुलन के साथ चले।

चाहे परिवार हो या समाज, जब लोग एक साथ बैठकर खाने का अभ्यास करते हैं, तभी खाने-पीने से जुड़ी बुरी आदतों पर नियंत्रण संभव होता है। यदि वे पूरी तरह समाप्त न भी हों, तो धीरे-धीरे कम अवश्य हो सकती हैं। इसके साथ ही यह अभ्यास नियमितता की ओर भी ले जाता है किन्तु आज का परिवेश ऐसा होता जा रहा है कि परिवार और समाज, दोनों

एकांगी दिशा में बढ़ रहे हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से एकांगीपन को बुरा नहीं माना जाता लेकिन यही एकांगीपन धीरे-धीरे उस जड़ का निर्माण करता है जिससे समग्रता का वृक्ष पनपता है। इसके विपरीत, गाँव और समाज दिशाभ्रम के शिकार होते जा रहे हैं।

पोते को देखते ही मनोहर बाबा बोले- “तेरे लिए ही रुका हूँ। यहीं जलपान लेकर आना।”

अव्यावहारिक बच्चा तर्क-वितर्क करने लगता है, जबकि व्यवहारिक बच्चा कार्य पर केंद्रित रहता है और तर्क में समय नहीं गंवाता। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैसे दर्शन तर्क तक पहुँच गया है, वैसे ही विश्वास भी अविश्वास में बदल गया है।

जो कुछ था, वह बीते युग की बात हो गई है। अब वह विचार पुराना पड़ चुका है जो यह कहता था कि जैसे गाँव की मिट्टी और पानी होते हैं, वैसे ही वहाँ के लोग।

अब वह समय नहीं रहा जब लोग आंकुश से बैंगन तोड़ते थे। आज तो ऐसी शंकर प्रजातियाँ विकसित हो गई हैं कि दरवाजे और आँगन में आम से लेकर अमरुद तक और आँवले से लेकर शरीफा तक की बाग लगाई जा सकती है।

हम जानते हैं कि जैसे गर्मी के मौसम का प्रमुख फल आम है, वैसे ही जाड़े के मौसम का फल शरीफा भी है, जो आकार और बनावट में आम से मिलता-जुलता होता है।

इसलिए यह मान लेना कि जाड़े की ठिठुरन पालक के साग में जैसी होती है, वही वैशाख के चेंच में भी होगी, यह तर्क उचित नहीं है।

जो होना है, वह देखा जाएगा लेकिन यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पानी में तैरने वाला जीव और मिट्टी में रेंगने वाला जीव एक जैसे नहीं हो सकते।

मन ही मन, मनोहर बाबा इन्हीं विचारों में डूबे हुए थे कि तभी लालदेव जलपान और पानी लेकर दरवाजे पर आ पहुँचा।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि खाने-पीने की वस्तु देखकर कुछ लोग लालायित हो उठते हैं, जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जो केवल भूख की तृप्ति चाहते हैं। एक ही वस्तु एक ही स्थान पर दो अलग-अलग रूप धारण कर लेती है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि भूख की स्थिति क्या है?

हम यह भी देखते हैं कि एक ही कार्य करते हुए कोई अपनी शक्ति का प्रयोग धर्म मानता है, तो कोई उसे भाग्य का भरोसा मानकर भगवान के हाथों सौंप देता है। जो भी हो, इस क्षण मनोहर बाबा का मन संतोष से भर उठा। उसी संतोष से उनके मुँह से अनायास निकला-

“बेटा लाल! जैसे उगते हुए सूर्य का प्रकाश धीरे-धीरे धरती पर फैल जाता है, वैसे ही मनुष्य में भी एक आंतरिक प्रकाश होता है परंतु यह भी सत्य है कि उस शक्ति को प्राप्त करने में मनुष्य के भीतर ही कई अवरोध मौजूद रहते हैं। एक कल्पनात्मक स्वर्ग भी होता है जो पूरी तरह कल्पना पर टिका होता है और जिसमें जीवित जीवन के साथ-साथ मृत जीवन भी समाया रहता है।”

मनोहर बाबा की बात सुनकर लालदेव चुपचाप, मुँह बंद किए, उनकी ओर टकटकी लगाए देखता रहा। छह महीने पहले ही उसने कॉलेज में प्रवेश लिया था। कॉलेज के आचार-विचार को वह अभी ठीक से समझ नहीं पाया था, इसलिए पढ़ने-लिखने की समझ विकसित होने में कुछ समय लगना स्वाभाविक था।

लालदेव की दृष्टि देखकर मनोहर बाबा के विचार बदल गए। उन्हें लगा कि संभव है लालदेव अभी इन गूढ़ बातों को ठीक से न समझ पा रहा हो। इसलिए विचारों की तीव्रता को कुछ कोमल बना देना, अर्थात उन्हें सरल और सहज रूप में प्रस्तुत करना, अधिक उपयुक्त रहेगा।

मनोहर बाबा बोले-

“बेटा लाल! अब मैं जीवन के चौथे चरण में प्रवेश कर चुका हूँ। शरीर का कोई भरोसा नहीं रहता, इसलिए जो अनुभव मैंने जीवन में संचित किए हैं, उन्हें तुम्हें सौंप देने का विचार बार-बार मन में उठता है।”

लालदेव नवयुवक था। उसने हाईस्कूल उत्तीर्ण कर लिया था, इसलिए उसमें आत्मविश्वास जाग चुका था। अब कॉलेज में प्रवेश के बाद उसे यह भी महसूस होने लगा था कि अपने विचारों के भंडार को विस्तार देना आवश्यक है। धान रखने की पात्र तो लोग बाँस और बल्लियों से जितनी चाहें बना लेते हैं लेकिन विचारों की कोठरी ऐसी नहीं होती। उसमें एक-एक बल्ला गाड़ने के लिए कठिन परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता होती है।

अपने को संभालते हुए लालदेव बोला- “बाबा! जीवन तो अमूल्य धन है, इसलिए...?”

पोते की बात सुनकर मनोहर बाबा के मन में स्नेह उमड़ आया और वे भावविभोर हो उठे। सामने जलपान और पानी रखा था। उन्होंने कहा-

“बेटा! जब से मनुष्य जन्म लेता है, तभी से उसे जीवन जीने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। भूख जीवन की पहली आवश्यकता है।”

लालदेव सामाजिक अध्ययन के क्रम में यह बात हाईस्कूल में पढ़ चुका था, इसलिए उसने बिना किसी संकोच के उत्तर दिया- “हाँ, यह तो है।”

लालदेव की बात सुनते ही मनोहर बाबा बोले- “पहले हम दोनों जलपान कर लें। उसके बाद चाय पीएँगे, फिर और बातचीत करेंगे।”

चाय पीने के बाद लालदेव ने पूछा- “बाबा, ये अग्रणी लोग कौन होते हैं?”

लालदेव का प्रश्न सुनकर मनोहर दादा को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसे पहाड़ का बर्फ पिघलकर झर-झर बहता पानी बन जाए और हँसते हुए धरती से एकाकार हो जाए। उनके हृदय में वह प्रसन्नता धीरे-धीरे पिघलने लगी। जैसे कोई दीवाना अपने दिल को चीरकर किसी और के हृदय की दरार भर देता है, वैसे ही मनोहर बाबा लालदेव के मन की रिक्तता भरने को तत्पर हो उठे।

वे बोले- "बेटा! तुम देख ही रहे हो कि आज का नया युवा अपनी मातृभूमि और पितृभूमि को भूलकर स्वयं को अंतरराष्ट्रीय नागरिक मानने

लगा है लेकिन यह भी सच है कि कोंहड़े की मिठाई अमेरिका में भी बनती है और हमारे यहाँ प्रकृति जामुन जैसी मिठाइयाँ स्वयं देती है। हम अपने हाथों से गन्ने का रस निकालकर मिठाई भी बनाते हैं। ऐसे में हमें यह तो स्वयं अनुभव करके देखना चाहिए कि कोंहड़े की मिठाई अधिक मीठी है या अपने देसी गन्ने की।"

मनोहर बाबा के विचारों को लालदेव ने कुछ हद तक समझा लेकिन कुछ बातों को वह बिल्कुल नहीं समझ पाया। मनोहर बाबा ने अपने विचारों को वेदी पर बिखरे लावे की तरह इतने फैलाव में रख दिया कि लालदेव का मन उनमें उलझ गया। वह यह नहीं समझ सका कि कौन-सा लावा किसका है, किसका अर्थ क्या है? वह यह भी नहीं जान पाया कि धान, मक्का और ज्वार का लावा होता है, जबकि अन्य अन्नों के नाम और रूप अलग होते हैं। एक ही प्रक्रिया से तैयार होने पर भी मटर और केराउ के फूटने में फर्क होता है।

अचानक मनोहर बाबा के मन में तुलसीदास की पंक्ति उमड़ पड़ी:

"हरि अनंत, हरि कथा अनंता।"

उनका मन उसी विचार पर ठहर गया।

उधर, लालदेव अपने ही विचारों के वन में भटक रहा था। दोनों कुछ देर तक चुप रहे। कुछ क्षणों बाद, चुप्पी तोड़ते हुए मनोहर दादा बोले- "लालदेव! तुमने जो प्रश्न पूछा था, ज़रा उसे दोहरा दो।"

लालदेव अभी भी उसी उलझन में था, इसलिए प्रश्न याद करने में उसे थोड़ी देर लग गई। तभी मुस्कराते हुए मनोहर बाबा ने हल्का सा व्यंग्य किया,

"बेटा! याददाश्त कमजोर है क्या?"

बातचीत के क्रम में ऐसा वातावरण बन जाता है, जहाँ ऊँच-नीच का भेद अपने आप मिट जाता है। उस क्षण मनोहर बाबा, लालदेव के लिए केवल 'दादा' नहीं रह जाते, और न ही लालदेव उनके लिए मात्र 'पोता' रह जाता है। एक ऐसा भावमंडल बन जाता है कि यदि दादा कहें- "बेटा! तुम्हारे विवाह के समय समाज की स्त्रियाँ जो गाना गा-गाकर तुम्हें छेड़ रही थीं, वह

आज भी मुझे वैसा ही याद है," और यदि पोता मुस्कराकर जवाब दे-

"दादा! वे अब भी वैसी ही शरारती हैं।" तो दोनों के मन में कोई भेद या संकोच नहीं रह जाता।

इसी बीच लालदेव को अपना प्रश्न याद आ गया। याद आते ही वह बोला-

"दादा! अग्रणी लोग कौन होते हैं?"

जिस प्रकार रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों के शीर्षकों में एक में चार अक्षर हैं और दूसरे में पाँच, उसी तरह मनोहर दादा उत्तर देते हुए बोले-

"अग्रणी लोग वही होते हैं जो जड़ की पूजा करते हैं।"

अपने ढंग से दादा ने उत्तर दे दिया- पर जैसे केवल शीर्षक देखकर रामायण और महाभारत को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता, वैसे ही लालदेव भी संतुष्ट नहीं हुआ। दादा की आँखों में अपनी आँखें डालते हुए वह बोला-

"दादा! ज़रा साफ शब्दों में समझाइए।"

पोते की बात सुनकर मनोहर दादा मन ही मन सोचने लगे कि जहाँ हर शब्द का अपना गुण और अपना धर्म होता है, वहाँ बात को कितना और साफ किया जाए। संतुलन बनाते हुए वे बोले-

"बेटा! जड़ का अर्थ तो तुम समझते ही हो न?"

विचारों के प्रवाह में बहते हुए लालदेव ने उत्तर दिया-

"हाँ, इतना तो समझता हूँ कि पेड़-पौधों, लताओं और बेलों का जड़ मिट्टी के भीतर होता है।"

पोते की बात सुनकर मनोहर दादा ने सिर हिलाते हुए कहा-

"तुम्हारा विचार सही है, क्योंकि तुम इसे अपनी आँखों से देखते हो। अब यह बताओ कि अंग्रेजों का जो शासन यहाँ रहा, उसके बारे में तुम क्या जानते हो?"

लालदेव ने अंग्रेजी शासन का इतिहास संक्षेप में पढ़ा था, पर समय के साथ वह ज्ञान इतना सिमट गया था कि उसके मन में केवल अंग्रेजों की गुलामी का बोध रह गया था। उसने उत्तर दिया-

“हाँ, सत्रह सौ पैंसठ ईस्वी से उन्नीस सौ सैंतालीस ईस्वी तक उनका शासन रहा।”

मनोहर दादा बोले-

"ठीक है। जैसे कुछ पेड़-पौधों का जड़ मिट्टी के भीतर होता है, वैसे ही वट जैसे बड़े वृक्षों का जड़ ऊपर की ओर होता है और कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका कद भले ही छोटा हो, लेकिन उनका जड़ कभी ऊपर और कभी मिट्टी के भीतर दिखता है।”

जो उसने अपनी आँखों से देखा था, उसपर सहमति जताते हुए लालदेव बोला-

“हाँ, ऐसा तो होता ही है।”

विचार को समेटते हुए मनोहर दादा बोले-

“जिस तरह पेड़-पौधों का जड़ कभी धरती के भीतर और कभी आकाश की ओर होता है, उसी तरह समाज का जड़ भी धरती से लेकर आकाश तक फैला होता है। बस यही बात है।” ❑

द्वैधता

☰

बौएलाल और कुशेश्वर ने पिछले वर्ष साथ-साथ मैट्रिक पास करने के बाद कॉलेज में नामांकन कराया और पढ़ाई शुरू की। दोनों जमुनिया गाँव के निवासी हैं। वैसे तो वे अन्य विद्यार्थियों से कुछ अलग हैं और इसका मुख्य कारण यह है कि वे एक ही गाँव से हैं तथा उनके बीच गहरा अपनापन भी है, जो अन्य विद्यार्थियों में प्रायः नहीं दिखता।

यह भी देखा गया है कि किसी कक्षा में अच्छे विद्यार्थियों के बीच भैंसा-भैंसी जैसी प्रतिस्पर्धा बनी रहती है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका व्यवहार पशुवत होता है, बल्कि यह कि प्रत्येक विद्यार्थी चाहता है कि उसका प्रदर्शन दूसरों से बेहतर हो। वह अच्छे कर्म भी करे और अच्छे परिणाम भी पाए।

इसी अंतर को स्पष्ट करते समय श्रीकृष्ण गीता में जब कहते हैं कि "कर्म करो और फल की आशा मत रखो," तो पढ़ने और समझने वाले लोग प्रायः उलझन में पड़ जाते हैं। इसका कारण यह है कि कर्म में फल तो स्वाभाविक रूप से निहित होता ही है।

अन्य विद्यार्थियों के बीच जहाँ प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है, वहाँ बौएलाल और कुशेश्वर के बीच वह बहुत कम है। जहाँ अधिकांश छात्रों में यह मानसिकता गहराई तक समाई रहती है, वहाँ इन दोनों की स्थिति भिन्न है। कुशेश्वर में यह प्रवृत्ति थोड़ी है, पर बौएलाल में नहीं।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ही मिट्टी, पानी और सामाजिक परिवेश में रहते हुए, एक समान शिक्षा प्रणाली से गुजरते हुए भी दो व्यक्तियों के व्यवहार में ऐसा अंतर क्यों होता है?

एक दृष्टि से इसे सामान्य माना जा सकता है लेकिन जब व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों को गहराई से देखा जाए, तो इस भिन्नता के कारण स्पष्ट हो जाते हैं।

वहाँ अनेक व्यावहारिक कारणों में एक कारण यह भी है कि व्यक्ति और समाज, दोनों ही कल्पनिक भी हैं और वास्तविकता भी। अंतर केवल इतना है कि व्यक्ति प्रायः देह रूप में प्रत्यक्ष होता है और कभी-कभी अदेह रूप में भी समझा जाता है, जबकि समाज एक विखंडित, अमूर्त और अदृश्य सत्ता होता है जो फिर भी सजीव रूप में प्रभाव डालता है।

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि व्यक्ति के रूप में साढ़े तीन हाथ का मनुष्य सामने खड़ा दिखाई देता है, पर समाज का ऐसा कोई ठोस रूप नहीं है जिसे आँखों से देखा जा सके। इसका यह अर्थ नहीं है कि समाज का अस्तित्व नहीं है। समाज भी उतना ही वास्तविक है जितना व्यक्ति।

इसीलिए कहा गया है कि हमारे समाज में बावन बीघा बंबई आम की बागान में भी हैं और खट्टे साधारण पेड़ भी।

बंधु! कलमी और सरही में अंतर होता है। कलमी वह होती है जिसमें एक वृक्ष की डाली को किसी अन्य वृक्ष के तने में जोड़कर नया पौधा तैयार किया जाता है। इसमें एक पेड़ का तना होता है और दूसरे पेड़ की डाली से वह संयुक्त होता है।

वहीं सरही वह होती है जो अपने ही बीज से स्वतः उगकर पेड़ का रूप लेती है।

मनुष्य कुछ अर्थों में वृक्षों, पौधों और पशु-पक्षियों से जुड़ा हुआ है और कुछ अर्थों में उनसे भिन्न भी है। आज पृथ्वी पर लगभग सात अरब मनुष्य हैं। यदि अन्य जीवों को अलग रख भी दिया जाए, तब भी इन सात

अरब मनुष्यों में उतनी ही विविधता है जितनी प्रकृति में।

जैसे हर मनुष्य की आँखें, कान और चेहरा अलग होता है, वैसे ही उसका मन, बुद्धि और विवेक भी भिन्न होता है। यदि ऐसा न होता, तो कोई व्यक्ति मानवीय गुणों का प्रतिनिधि बनता और कोई अमानवीय प्रवृत्तियों का शिकार क्यों बनता?

अबतक, यानी हाई स्कूल तक के जीवन में, बौएलाल ने कुशेश्वर को आत्मा का अंश मानकर निष्कलंक और निष्कपट व्यवहार किया है। इसके मूल में बौएलाल के पिता की दी हुई व्यवहारिक शिक्षा गहराई से रची-बसी है।

दूसरी ओर, कुशेश्वर के मन में एक गुप्त उद्देश्य है, उसे विद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह बौएलाल से सहायता तो लेता है, पर अपनी योजना का वास्तविक स्वरूप उससे छिपाए रखता है।

हाई स्कूल तक बौएलाल और कुशेश्वर, दोनों का जीवन ऐसा रहा कि एक वर्ष, अर्थात एक कक्षा में, बौएलाल प्रथम आता था और अगले वर्ष, अर्थात अगली कक्षा में कुशेश्वर। इसी क्रम में आगे बढ़ते हुए मैट्रिक की परीक्षा में बौएलाल आगे निकल गया। उसका बेहतर परिणाम देखकर कुशेश्वर के मन में जहाँ ईर्ष्या उत्पन्न हुई, वहीं उसके संस्कारों में एक तरह की कुदृष्टि भी जन्म लेने लगी।

कुशेश्वर को अपने ही व्यवहार का द्वैधता साफ़ दिखाई देने लगा। उसे यह स्पष्ट हो गया कि जो बात वह स्वयं जानता है और बौएलाल से छुपाता है, वही व्यवहार शायद बौएलाल भी करता हो।

संदेह, आखिरकार, संदेह ही होता है। वही कभी मित्रता का कारण बनता है, तो कभी शत्रुता का। इसी कारण कुशेश्वर के मन में बेचैनी बढ़ने लगी। यह बेचैनी इस बात से और बढ़ गई कि जब वह दूसरों के मन की बात नहीं जान सकता, तो फिर बौएलाल के मन को कैसे समझ पाएगा?

इस स्थिति में उसका मन शोक और उलझन से भर उठा। शोक से

पीड़ा जन्म लेती है और यही पीड़ा व्यक्ति को भीतर से पीड़ित कर देती है। कुशेश्वर का मन भी गहराई से पीड़ित हो उठा। पीड़ा, चाहे जैसी भी हो, पीड़ा ही रहती है। कब यह सप्रेम बन जाती है और कब कुप्रेम में बदलकर रोग का रूप ले लेती है, कहा नहीं जा सकता। हार और थकान से जूझते-जूझते कुशेश्वर का मन जैसे एक बिंदु पर आकर ठिठक गया।

जब उसका मन ठहर गया, तब वह उस ठहराव से बाहर कैसे निकलता? उसी क्षण उसके मन ने ही यह विचार दिया कि यदि गाँव में कोई ऐसा व्यक्ति है जो जीवन साथी जैसा हो सकता है, तो वह बौएलाल ही है। दोनों साथ-साथ पढ़े हैं, इसलिए क्यों न अपने मन की मैल बौएलाल के पास बैठकर धो ली जाए? कपड़ों की मैल तो साबुन से साफ हो जाती है, लेकिन मन की मैल केवल संवाद और विचार-विनिमय से ही दूर होती है।

अपने मन में यह विचार संजोकर कुशेश्वर बौएलाल के यहाँ पहुँचा। दोनों परिवारों में पहले से आना-जाना था, इसलिए आपसी व्यवहार भी पारिवारिक जैसा ही था। कुशेश्वर को देखते ही बौएलाल बोला-

“कुशे भाई! तुम्हारा मन कुछ उतरा हुआ सा लग रहा है।”

कुशेश्वर के मन में हलचल हुई कि बौएलाल उसके मन की बात कैसे समझ गया। भीतर की बात, अर्थात जो अभी व्यक्त नहीं हुई है, उसे पहले ही कह देना भी उचित नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति अपनी पत्नी की पूंजी बताकर मित्रों से उधार ले लेता है, वैसे ही कुशेश्वर भी अपने मन की बात को भीतर दबाकर लाभ उठाने का विचार कर सकता था।

कुशेश्वर बोला-

“कोई खास बात नहीं है, बौए भाई! हाँ, मन में उपजा एक शब्द जरूर है, उसी के संबंध में बातचीत करने आया हूँ।”

शब्दों का भी अपना एक चरित्र होता है। कभी वे सीधे चलते हैं, कभी पहेली की तरह घूमते हैं और कभी चिंगारी बनकर उछल पड़ते हैं। कुशेश्वर के मन के भाव को बौएलाल समझना चाहता था, पर अबतक बातचीत में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिला था।

बौएलाल बोला- “वह शब्द कैसा है? यह तो तब समझ आएगा जब तुम उसे मुँह से निकालोगे।”

बोलना या न बोलना, कैसे बोलना, कितना बोलना, ऐसे अनेक विचार कुशेश्वर के मन में उमड़ने लगे। दूसरी ओर, बौएलाल का मन शांत और निष्कलुष था। इसका कारण यह था कि वह अपने विचारों में मग्न था। वह इस बात पर चिंतन कर रहा था कि दो मतों या विचारों के बीच कहीं न कहीं एक सीमा रेखा अवश्य होती है। जैसे मिट्टी और पानी से धरती बनी है, वैसे ही हवा और पानी से आकाश बनता है। इन दोनों के बीच भी कोई सीमा होती है, जिसे क्षितिज कहा जाता है।

इसी प्रकार दो देशों के बीच जो सीमा होती है, अर्थात सीमांकन रेखा, वह किसी की निजी नहीं होती, न ही किसी एक देश की होती है। वह क्षेत्र पूर्णतः स्वतंत्र होता है, इसलिए उस पर कोई भी दावा नहीं कर सकता।

बौएलाल फिर बोला- “कौन सा शब्द है? भाई!”

यह कहते हुए वह तो बोल गया लेकिन जैसे ही उसने उस शब्द पर मनन किया, उसके मन में तरह-तरह के शब्द उठने लगे। उसे लगने लगा कि शब्द केवल वाणी नहीं बनते, वे बाण भी बन सकते हैं, जो कहीं से चलकर कहीं न कहीं जा पहुँचते हैं।

संकोच और आत्ममंथन के साथ कुशेश्वर बोला-

“भाई! द्वैधता क्या होता है?”

मित्र! दुनिया की बनावट भी बड़ी विचित्र है। जैसे धरती के नीचे सात रंगों के सात तल माने जाते हैं, वैसे ही धरती के ऊपर की दुनिया भी ग्यारह रंगों वाली मानी जाती है, जिन्हें मिलाकर ‘अठारह भुवन’ कहा जाता है। कुछ लोग चौदह भुवन भी मानते हैं और कहते हैं कि सात नीचे और सात ऊपर हैं। गाँव-घर में भी देखा जाता है कि लोकदेवता चौदह देवताओं का रूप लेकर गह्वर में गोसाईं खेलते हैं।

बौएलाल के मन में विचार उठने लगा कि द्वैधता का अर्थ गुण और अवगुण के संतुलन को उलट देना है। जो ‘छप्पन’ पचास से ऊपर है, वही

छप्पन कहलाए या जो नीचे है, वही? जैसे कोई झुँझलाकर बोलता है, वैसे बोलने से उसके मन ने खुद ही मना कर दिया। भीतर की आग जैसे धीरे-धीरे प्रकाशित होने लगी।

अचानक बौएलाल के मन में विचार आया कि अपरिचित लोग तो जैसे-तैसे होते हैं, लेकिन जो जाने-पहचाने और अनुभवी लोग हैं, वे तो ऐसा व्यवहार नहीं करते। इसलिए क्यों न छंटू पंडित चाचा को मध्यस्थ मानकर दोनों अपने-अपने विचार उनके सामने रखें और उनकी राय से अपने मन को समझा लें। अधिक से अधिक यही होगा कि दुनिया के फैसले में कुछ न बदले, पर मन तो अपने भीतर ही शांत हो जाएगा।

बौएलाल बोला-

“भाई कुशेश्वर! हम लोग तो अभी छह महीने से ही कॉलेज के विद्यार्थी बने हैं। हमसे पहले भी कितने विद्यार्थी आए और गए हैं, अब भी हैं और हमारे पीछे भी बच्चे आएँगे। इसलिए हम कहीं न कहीं बीच की स्थिति में हैं। जैसे गिनती की एक सीमा 'एक' होती है और दूसरी 'सौ', बाकी सब तो बीच में ही होते हैं।”

बौएलाल का यह संतुलित विचार कुशेश्वर को अच्छा लगा। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि वह समझ चुका था कि चार युग बीत चुके हैं– सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग– और आगे फिर चार युग आएँगे। इन्हीं के बीच तो हम हैं। इसलिए मध्य स्थिति की आवश्यकता तो होगी ही।

कुशेश्वर बोला-

“हाँ, यह तो ठीक है।”

कुशेश्वर की सहमति देखकर बौएलाल ने छंठू पंडित चाचा को मध्यस्थ मानते हुए कहा-

“भाई! समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति छंटू पंडित चाचा हैं। गाँव की तो बात ही छोड़ो, दस कोस तक के लोग उन्हें भागवत कथावाचक मानते हैं। हमारे लिए वे केवल समाज के ही नहीं, पूर्वजों जैसे भी हैं। इसलिए चलो, उन्हींके पास चलते हैं। दोनों अपने-अपने विचार रखेंगे और उनके निर्णय

को स्वीकार भी कर लेंगे।"

हालाँकि छंठू पंडित चाचा का नाम सुनते ही कुशेश्वर थोड़ा असहज हो गया। उसके मन में यह विचार उठ आया कि छंठू पंडित चाचा बाद में भागवतकार बने हैं, परंतु पहले वे व्याकरणाचार्य थे, जिन्होंने अपने श्रम और साधना से यह स्थान प्राप्त किया था। इसलिए भाषा की हर बारीकी उन्हें ज्ञात है। कहीं ऐसा न हो कि वे उसकी तर्कगत कमजोरी को तुरंत पहचान लें।

दोनों मित्र, बौएलाल और कुशेश्वर, छंठू पंडित चाचा के पास पहुँचे। छंठू पंडित चाचा जितने संपन्न थे, उतने ही विचारशील भी थे।

दोनों को एक साथ आया देखकर छंठू पंडित चाचा ने मन ही मन अनुमान लगाया कि इनके बीच निश्चित रूप से कोई वैचारिक मतभेद है। यदि ऐसा न होता, तो वे अलग-अलग आते। फिर उन्होंने तुरंत अपने मन को स्थिर किया और सोचा कि जब इस संसार में न कोई पूरी तरह अपना होता है और न पूरी तरह पराया, तब जो विचार उचित हो, उसे कहने में संकोच कैसा?

विचार करते हुए ही उनके भीतर यह चेतावनी भी उठी कि शक्ति भी एक तत्व है। कहीं मनुष्य अपनी शक्ति से कुछ करता है और कहीं वह दूसरों की शक्ति के दबाव में। इस द्वंद्व के बावजूद छंठू पंडित चाचा की विचार-शक्ति सक्रिय हो उठी। उन्हें यह स्पष्ट हुआ कि विचार तीन प्रकार के होते हैं। पहला सुविचार, दूसरा कुविचार और तीसरा निरविचार, अर्थात निष्पक्ष विचार।

छंठू पंडित चाचा बोले- "बच्चे लोग, क्यों आए हो?"

बौएलाल ने उत्तर दिया- "चाचा! हम दोनों छह महीने से एक साथ कॉलेज में पढ़ रहे हैं।"

बीच में ही छंठू पंडित चाचा मुस्कराते हुए बोले- "वाह, यह तो खुशी की बात है।"

छंठू पंडित चाचा के मुख से 'खुशी की बात' सुनते ही बौएलाल और

कुशेश्वर दोनों का मन प्रसन्न हो गया।

तभी कुशेश्वर बोला-

“चाचा, द्वैधता क्या होता है?”

व्याकरणाचार्य होने के कारण छंठू पंडित चाचा का मन दृढ़ था। उन्होंने कहा-

“बच्चे लोग, पहले मैं अपनी बात कह देता हूँ क्योंकि तुम अभी विद्यार्थी हो और साथ ही अपने आप में एक प्रकार के व्यवसायी भी बन चुके हो। जैसे दुनिया बहुत बड़ी है, वैसे ही वह विचित्र भी है।”

छंठू पंडित चाचा के मुख से यह नया विचार सुनकर दोनों एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गए। तुरंत ही बौएलाल के मन में प्रश्न उठा कि केवल इतना कह देने से तो बात पूरी नहीं हुई। उसने पूछा-

“यह कैसे? चाचा!”

छंठू पंडित चाचा बोले-

“बेटा! मैं भागवत का पेशा अपनाकर दुनिया से, अर्थात गाँव के बाहर से, कभी छल-कपट समझकर, कभी किस्से-कहानियाँ सुनाकर, कभी उपाय बताकर धन अर्जित करता हूँ और उसीसे परिवार का पालन-पोषण करता हूँ।”

बीच में कुशेश्वर ने बिना सोचे-समझे, अनायास ही कह दिया-

“वाह!”

कुशेश्वर के मुख से ‘वाह’ सुनते ही छंठू पंडित चाचा के विचारों की दिशा बदल गई। उन्होंने अपने विचार को सँवारते हुए कहा-

“बेटा! एक होता है दुनिया का समाज और दूसरा होता है अपना समाज। जिसे तुम जन्मभूमि, मातृभूमि या जन्मस्थान कहते हो, उसकी अपनी एक मर्यादा होती है। उस सीमा के भीतर आजतक न मैंने किसी के साथ अनुचित व्यवहार किया है और न ही मन में ऐसी कोई भावना रखी है लेकिन जब हम अपने समाज से बाहर निकलते हैं, तब दुनिया के रीति-

रिवाज देखकर हम भी वैसे ही हो जाते हैं। तब उचित और अनुचित का विचार मन से ओझल हो जाता है।"

बालबोध की अवस्था में होने के कारण बौएलाल और कुशेश्वर के मन में छंठू पंडित चाचा की बात उस गहराई से नहीं उतर सकी, जिस अर्थ में उन्होंने उसे कहा था। इसलिए अपने मूल प्रश्न की ओर लौटते हुए बौएलाल बोला-

"चाचा, आप तो अथाह हैं। उस अथाह की गहराई नापने की हैसियत हम लोगों की तो नहीं है, तब फिर..."

उत्सुक व्यक्ति की भाँति छंठू पंडित चाचा बोले-

"तुम लोगों को अपने प्रश्न का उत्तर चाहिए, यही न?"

बौएलाल ने कहा-

"हाँ।"

छंठू पंडित चाचा ने मन ही मन सोचा कि शब्दों का व्याकरणिक और भावात्मक विश्लेषण करना यहाँ उपयुक्त नहीं होगा। गाँव-समाज में व्यवहार के स्तर पर जो बात समझ में आती है, वही बताना ठीक रहेगा। फिर उन्होंने कहा-

"बेटा! द्वैधता का अर्थ होता है किसी वस्तु या विचार को दूसरे से छिपाकर रखना।" ❑

निरंकुश लोग

☰

आज पूस महीने की अमावस्या का दिन है क्योंकि महीने का आधा समय बीत चुका है। महीना तो महीना होता है, उसमें उतार-चढ़ाव चलते ही रहते हैं। इन उतार-चढ़ावों के पीछे कई प्रकार के प्रभाव होते हैं। एक प्रभाव बीते हुए महीने के वातावरण का होता है, दूसरा स्वभावजन्य प्रभाव और तीसरा आने वाले महीने का प्रभाव लेकिन इस वर्ष का पूस महीना इन सबसे कुछ अलग है। यह पूस पूर्णिमा आधारित महीने और संक्रांति आधारित महीने के बीच स्थित है अर्थात पूर्णिमा-अमावस्या की गणना के अनुसार आज चौदह दिन बीत चुके हैं और पंद्रहवाँ दिन है। एक चतुर्दशी बीत जाने के बाद आई यह अमावस्या यह दर्शाती है कि महीना लगभग आधा पार हो चुका है लेकिन दूसरे हिसाब से, अर्थात तिथि आधारित गणना के अनुसार, आज संक्रांति का दिन है। इसी कारण आज मकर संक्रांति का पर्व भी मनाया जा रहा है।

निम्बू की बगीचे में अकेले काम करते बैठे सुमित चाचा के मन में किसी से बात करने की इच्छा होने लगी।

वैसे भी मौसम कुछ ऐसा हो गया है कि लगातार सात दिनों तक चली शीतलहर के कारण लोगों को आठवें दिन सुबह में ही सूर्य के दर्शन हुए। सुमित चाचा इन दिनों खेती का कोई काम नहीं कर पाए थे। इस कारण उनके मन में यह बेचैनी बनी हुई थी कि बीते सात दिनों की कड़ाके की ठंड ने खेती की क्या दशा कर दी होगी?

जब वे स्वयं देखने जाते हैं तो ऊपर से बस एक सरसरी निगाह डालकर लौट आते हैं। ठंड रहने के कारण पत्तों की हरियाली में कोई खास

कमी दिखाई नहीं देती। जैसे कोई मोटा व्यक्ति ऊपर से स्वस्थ और भरा-पूरा दिखता है, पर भीतर से किसी रोग से पीड़ित होता है, वैसे ही पेड़-पौधों के साथ भी हो सकता है।

जब शीतलहर की ठंड पाले में बदल जाती है, तब उसका प्रभाव पेड़-पौधों पर भी पड़ता है और वे भी उससे प्रभावित हो जाते हैं।

सुबह के नौ बजे थे। निम्बू के झाड़ की जड़ों की स्थिति समझने के विचार से सुमित चाचा खुरपी लेकर झाड़ के पास पहुँचे और ध्यानपूर्वक उसकी जड़ों को देखने लगे। जड़ों को देखते ही उनके मन में बातचीत करने की इच्छा जागी। यहाँ बातचीत का अर्थ केवल बोलचाल से नहीं, बल्कि विचार और राय साझा करने से है।

मन उचाट होते ही सुमित चाचा चारों ओर देखने लगे कि कोई सामने पड़ जाए तो उसे आवाज दें या स्वयं उसके पास जाकर बातचीत कर लें। चारों ओर ध्यान से देखने के बाद, जब कोई दिखाई नहीं दिया, तब उन्होंने अपने मन को समझाना शुरू किया कि अब पहले जैसा समय नहीं रहा, जब लोग खाली बैठते थे और बातचीत करते-करते या ताश और कबड्डी खेलते हुए दिन-रात बिता देते थे।

अब तो जीवन में इतनी व्यस्तता आ गई है कि तीन-तीन, चार-चार बार मुंडन की आशीर्वाद-भरी पुकारों से लेकर श्राद्ध और विवाह के निमंत्रण निभाने पड़ते हैं। इसके साथ चार-पाँच चाय-पार्टियों में सम्मिलित होना और फिर खेल के मैदान तक पहुँचना भी आवश्यक हो गया है। वैसे, एक सुविधा अब मोबाइल के रूप में आ गई है, जो जीवन के सबसे बड़े साथी की तरह कार्य करता है। ऐसे में नई पीढ़ी में व्यस्तता आना स्वाभाविक है।

अब वह समय नहीं रहा जब युवक निम्बू की झाड़ी लगाते और अपनी उपज को दुनिया के बाजार तक पहुँचाते थे। अब तो सब कुछ तैयार मिलता है। ऐसे में कोई नवयुवक निम्बू जैसे फल के लिए झाड़ी में जाकर क्यों कांटे झेले?

चारों ओर दृष्टि घुमाने पर जब सुमित चाचा को कोई नहीं दिखाई

दिया, तो वे फिर निम्बू के झाड़ की जड़ों के पास लौट आए और ऊपर की ओर देखने लगे। तब उन्होंने देखा कि पेड़ तो फूलों से लदा हुआ है। फूलों से भरे उस पेड़ को देखकर उनके मन में विचार उठा कि इन्हीं फूलों और फलों की आशा में तो इसे लगाया था।

इसका यह अर्थ नहीं है कि जैसा संकल्प लेकर कोई काम करता है, वैसा ही फल अवश्य मिल जाता है और मन तृप्त हो जाता है। मन तो मन है, वही नाप-तौल की फीते से सतही धरातल को मापने की कोशिश करता है। वह मापता तो है, पर आँखें भी अपनी भूमिका निभाती हैं। वे ऊपर-ऊपर कूदती-फांदती हुई सब कुछ देख लेने का दावा करती हैं, पर भीतर की गहराई को नहीं माप पातीं।

जो भी हो, सुमित चाचा का मन एकाएक निम्बू के जाढ़ के ऊपर से नीचे उतरने लगा। उसी बीच उन्हें धक से अपना जीवन याद आ गया। पिछले वर्ष पचास वर्ष पूरे हो गए थे। पिता और पूर्वजों से मिले औसत जीवनकाल में उनका भी तो आधा समय बीत चुका है। आधा जीवन पूरा होता देख सुमित चाचा के मन में तृप्ति का भाव आ गया।

तृप्ति आते ही उनकी दृष्टि जैसे निम्बू के झाड़ पर नख से शिख तक चढ़ने लगी। ऊपर की ओर देखने की इच्छा नहीं हुई। ऊपर देखने का अर्थ था फूल से फल बनने की वह यात्रा, जो शिखर तक जाती है, यानी फूल से फल बनकर जीवन के उपयोग तक पहुँचने की यात्रा लेकिन उनकी दृष्टि वहाँ तक नहीं पहुँची।

नीचे की ओर, निम्बू के झाड़ की जड़ों की तरफ, उनकी नजर तेजी से उतर आई। जड़ों की मिट्टी में नमी की कमी थी और उसका स्वरूप ऐसा हो गया था, जैसा मातृत्व प्राप्त करने के बाद किसी माँ या बहन के चेहरे का हो जाता है, थका हुआ और फीका।

अचानक सुमित चाचा के मन में विचार आया कि पहले जड़ों में पानी देकर उन्हें हरा-भरा किया जाए। फिर खुरपी से जड़ों की मिट्टी को थोड़ा हल्का किया जाए, ताकि वे साँस ले सकें यानी आसपास की मिट्टी को

ढीलाकर पेड़ को फिर से जीवंत बनाया जाए।

काम शुरू करने से पहले उनकी नजर एक बार फिर निम्बू के झाड़ की ओर गई। फूलों से लदे झाड़ का दृश्य देखकर उनकी दृष्टि दौड़ गई। तभी मन में विचार उठा कि प्रकृति भी कितनी विचित्र है? उसपर पूरी तरह भरोसा करना आसान नहीं है। वह डांवाडोल संपत्ति की तरह है, कभी साथ देती है और कभी बीच रास्ते में छोड़ देती है।

इसका आशय यह है कि कुछ प्रकार के पेड़-पौधों में यह गुण होता है कि फूल आने के समय यदि उनकी जड़ों को पानी दिया जाए, तो यह लाभदायक होता है लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं कि यदि फूलों से लदे समय उनकी जड़ों में पानी दिया जाए, तो सारे फूल झड़ जाते हैं और फल नहीं बन पाते।

खेतों में टमाटर और मिर्च के पौधों को भी देखा जाता है और आम के पेड़ों को भी। इसलिए यह कहना कि फल तो अमरूद और केला में भी लगते हैं परंतु उनके फूल कई बार फल बनने से पहले ही गिर जाते हैं।

एकाएक सुमित चाचा का मन निम्बू के झाड़ की जड़ों में वैसे ही उतरने लगा, जैसे नाग का वास आक के पेड़ की जड़ों में माना जाता है। धरती पर, अर्थात पेड़ की जड़ों के ऊपरी हिस्से में, हम पानी डालते हैं, सिंचन करते हैं, लेकिन वही सिंचन शक्ति कैसे पेड़ के सिर तक, उसकी शाखा और प्रशाखाओं में प्रवेश करती है और फिर धरती से जुड़ जाती है, यह प्रकृति का रहस्य है। वही पानी धरती के ऊपरी हिस्से को पकड़कर आकाश की ओर उठता है, पत्तों तक पहुँचता है और फिर बादल का जलकण बन जाता है। यही तो प्रकृति की लीला है।

तीस वर्षों से निम्बू के झाड़ को रोपते, लगाते और उसकी सेवा करते हुए सुमित चाचा अपने जीवन के पचासवें वर्ष से आगे निकल चुके हैं। फिर भी वे अबतक यह नहीं समझ पाए कि फूलों से लदा निम्बू का झाड़ जड़ों में पानी देने से फल देगा या फूल ही झाड़ देगा।

संसार में ऐसा कौन है जो स्वयं यह कहे कि वह बूढ़ा होने वाला है?

यह बात किसी से कहकर तो देखिए। जब कोई भी बूढ़ा होना नहीं चाहता, तब सवाल यह भी उठता है कि मानसरोवर का हंस हुआ या नहीं हुआ। लोगों को, विशेषकर नई पीढ़ी को, अब मोबाइल ने इतनी छुट्टी दे दी है कि हंस और बगुले की पहचान करने की फुर्सत ही नहीं रही। अब वह लोकोक्ति भी कहां बची है कि "गया वह बांस जिस पर बैठा बगुला और गया वह राज्य जिसमें तिरहुतिया गया"। आज तो यह स्थिति हो गई है कि तिरहुतिया किसे कहें, बगुला किसे कहें और हंस किसे कहें? इतिहास में हंसराज और वंशराज भी हुए हैं और उसी तरह हंसलाल और कंसलाल भी।

निम्बू के झाड़ के पास खड़े सुमित चाचा का मन ठंडे पानी वाले तालाब की जल-तरंगों की तरह हिलोरें लेने लगा। उनका मन इतना उलझ गया कि कभी लगता, पेड़ को छोड़ना जीवन को छोड़ना होगा। कभी लगता, व्यर्थ के झूठ और दिखावे की दुनिया में स्वयं को ही झुठलाया और बहलाया जा रहा है।

क्या समझदार माता-पिता का यह दायित्व नहीं होता कि वे बेटे-बेटी के भविष्य और जीवन-निर्वाह की दिशा पर दृष्टि डालें? पर जो भी वे करते हैं, वह उनके अपने मन का निर्णय होता है।

सात दिनों की शीतलहर के बाद आठवें दिन जब सूर्य का प्रकाश फैला, तो केवल सुमित चाचा ही नहीं, और भी लोग बाहर आकर चहलकदमी करने लगे। कॉलेज में पढ़ने वाला ललित भी घर से निकल पड़ा। उसने धूप में शरीर को खोलने और तन को राहत देने के लिए गांव की ओर दस कदम चलना बेहतर समझा।

सोलह वर्षीय ललित के बालमन में यह बात क्यों उठी कि जैसा अपना जीवन है, वैसा ही दूसरों का भी होगा। जैसे सात दिनों तक हम ठंड से दबे रहे, वैसे ही शायद दूसरे भी दबे रहे होंगे। यही सोचते-सोचते, अपनी ही धुन में, अकेला ललित गांव की ओर चल पड़ा।

आठवें दिन का सूर्य निकला था, पर इसे दुर्गा पूजा की अष्टमी न समझें। यह अष्टमी शीत और धूप के बीच की वह सुबह थी, जिसमें मगन

होकर घूमते हुए ललित अचानक सुमित चाचा के सामने आ गया। सुमित चाचा ने आवाज लगाई-

“अरे ललित! ज़रा इधर आओ।”

घूमने में मगन ललित ने अवसर पाकर सुमित चाचा की ओर रुख किया और बोला-

“क्या कहते हैं? चाचा!”

जैसे माता-पिता बालबोध को जाग्रत करते हुए कहते हैं कि बेटा! यह काम करो, यह बहुत जरूरी है, वैसे ही सुमित चाचा बोले-

“बेटा! कहने को तो बहुत बातें हैं लेकिन बात तो बात ही होती है। यह इसपर निर्भर करता है कि बात विचार बनेगी और फिर कर्म का रास्ता पकड़ेगी या बात बस बात बनकर रह जाएगी।”

चूंकि किसी कार्य के लिए कोई विचार उठा ही नहीं था। इसलिए ललित का मन केवल बातों के अर्थ मिलाने में उलझा और भटकता रह गया।

अचानक सुमित चाचा का मन शब्दों की दुनिया से निकलकर विचारों की भूमि में प्रवेश कर गया। वहां खड़े होकर उन्होंने कहा-

“बेटा ललित! अब तुम भी जवान हो चुके हो और मैं भी पचास वर्ष पार कर चुका हूं। इसलिए हम दोनों प्रेमचंद भाई के दो विचारों के बीच खड़े हैं।”

‘प्रेमचंद’ का नाम सुनते ही ललित के मन में एक तरंग-सी उठी और वह उत्साहित होकर बोला-

“चाचा! वही प्रेमचंद न, जिन्होंने ‘नमक का दरोगा’ लिखा है?”

ललित के मुंह से ‘नमक का दरोगा’ सुनते ही सुमित चाचा मन ही मन सोचने लगे कि ललित वास्तव में प्रेमचंद को गहराई से नहीं जानता। उन्होंने कहा-

“हाँ बेटा! वही प्रेमचंद, जो एक जगह कहते हैं 'चालीस तो घपचालीस', और दूसरी जगह कहते हैं 'साठा पर पाठा'।”

प्रेमचंद का पहला विचार ललित समझ गया था कि चालीस के बाद घपचालीस, लेकिन ‘साठा पर पाठा’ वह न पढ़ पाया था और न ही समझ सका था। इसलिए वह थोड़ा हिचकने लगा।

ललित को हिचकता देख सुमित चाचा बोले-

“अभी प्रेमचंद भाई के विचार छोड़ो। जिस साल वे मरे, उसी साल जिन लोगों का जन्म हुआ, उनमें अब कोई पूरा पका होगा या नहीं, यह अलग बात है लेकिन अधिकतर तो बेअक्ल ही रह गए होंगे, इसलिए उन्हें भी बेअक्ल मान लो।”

‘बेअक्ल’ शब्द सुनते ही ललित की जिज्ञासा और बढ़ गई। उसे यह शब्द पहले भी सुनने को मिला था, जैसे कि "फलां कर्जदार फलां महाजन के यहाँ से बेअक्ल बनकर लौटा" लेकिन सुमित चाचा इस शब्द से क्या अर्थ लेना चाहते हैं, यह जानना बाकी था। ललित ने पूछा-

“वह कैसे? चाचा!”

सुमित चाचा के मन में यह विचार उठा कि जब ललित कॉलेज में पढ़ रहा है, तो उसे पूरी तरह अतीत में उलझाना उचित नहीं है। इसलिए उन्होंने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा-

“बेटा ललित! जबतक आँखें देख सकती हैं और दुनिया दिखाई देती है, तबतक यह दुनिया है। नहीं तो फिर सब बेकार और निष्प्राण हो जाता है।”

‘बुढ़िया फूसि’ या ‘बुढ़बा फूसि’ जैसे शब्दों से ललित अबतक परिचित नहीं था, इसलिए उसके मन में एक नई जिज्ञासा ने जन्म लिया। उसने फिर पूछा-

“यह कैसे? चाचा!”

सुमित चाचा बोले-

“अभी हम दोनों नींबू के पेड़ के पास खड़े हैं जो हमारी आँखों के सामने स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इसलिए इसी पर दृष्टि डालकर सोचो कि नींबू

फल है या नहीं?”

ललित का मन आगे-पीछे डोलने लगा। एक ओर वह देख रहा था कि नींबू का उसका भाई 'गागर नींबू (चकोतरा)' फल बनकर छठ पूजा के घाट पर श्रद्धा से चढ़ाया जाता है और दूसरी ओर वही नींबू दाल से लेकर स्वादिष्ट व्यंजनों तक का स्वाद बढ़ाने का आधार बन जाता है। साथ ही वह यह भी देख रहा था कि आम फलों का राजा कहलाता है, उसकी डालियाँ और पत्ते विशाल होते हैं, जबकि नींबू का पेड़ तो जंगल की झाड़ी जैसा होता है, जो लंबाई-चौड़ाई में सीमित रहता है। तब इसे क्या माना जाए?

असमंजस में ललित बोला- “चाचा! यह दोनों है।”

ललित की बात सुनकर सुमित चाचा सोच में पड़ गए। उन्होंने मन ही मन यह महसूस किया कि जबतक विचारों को गहराई तक नहीं ले जाया जाएगा, तबतक आने वाली पीढ़ी मूल बात को नहीं समझ पाएगी। जैसे एक ही डंडे से खिचड़ी और खीर नहीं चलाया जा सकता, वैसे ही जीवन की समझ भी अलग-अलग परिस्थितियों पर निर्भर होती है।

सुमित चाचा ने अपने विचार को पीछे मोड़ते हुए कहा-

“बेटा! जब मैं नींबू के पेड़ की जड़ के पास बैठा, तो अचानक मन बातचीत के लिए व्याकुल हो उठा। चारों ओर झाँककर देखा लेकिन कोई दिखाई नहीं दिया। हारकर फिर पेड़ की जड़ और उसकी शिखा की ओर देखने लगा, तभी मेरी नजर तुम पर पड़ी।”

अब भी कॉलेज के विद्यार्थियों में इतनी सड़ांध नहीं आई है कि पूरी पीढ़ी ही नष्ट हो जाए लेकिन यह जरूर है कि वे धारा की तरह बहना चाहते हैं। यह बात सुनकर ललित बोला-

“चाचा! मैं भी खाली ही हूँ। चलिए, बैठका में बैठकर बातचीत करते हैं।”

सुमित चाचा मुस्कराए और बोले- “बेटा! अब वह बैठका कहाँ रहा? अब तो अच्छे लोगों का बैठका आँगन बनता जा रहा है। इसलिए बैठका से अच्छा तो बगीचा है, जहाँ पूरे शरीर को धूप मिलती है।”

सात दिन की ठिठुरन से जला हुआ शरीर ललित का भी था, इसलिए यह बात उसे अनुकूल लगी। वह बोला-

“चाचा! मैं भी कोई कमजोर आदमी नहीं हूँ। किसान ही तो हूँ। यहीं खड़े-खड़े बात कर लेते हैं।”

सुमित चाचा हल्के-से मुस्कराए और बोले-

“गाँव में अब एक भी निरंकुश आदमी नहीं बचा है।”

‘निरंकुश आदमी’ शब्द सुनकर ललित थोड़ा हिचकने लगा। कुछ कहने का विचार उसके मन में जन्म लेने ही वाला था कि सुमित चाचा ने उसका भाव समझ लिया। वे बोले-

“निरंकुश आदमी वह होता है, जो दुनिया में रहते हुए भी दुनिया का नहीं होता।” ❑

अनुभवी लोगों की वाणी

☰

सेवानिवृत्ति के पंद्रह वर्षों के बाद अर्थात जब क्षेम बाबू पचहत्तर वर्ष के हो गए, तब एक दिन वे बैठका में बैठे पत्नी-वियोग की लहरों में डूबते-उतराते थे। उसी समय, वे जीवन के उस घाट तक पहुँच गए, जहाँ यह कहा जाता है-

"राम नाम सत्य है, सबको यही गति है।"

हमारे यहाँ, अर्थात मिथिला समाज में, शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसने अपने मुँह से इस गहरे अर्थ की बात न कही हो परंतु ऐसा कह पाना आसान नहीं है। आज भी जब हमारे समाज में किसी की मृत्यु होती है और शव को श्मशान ले जाया जाता है, तो रास्ते भर यही वाक्य दोहराया जाता है-

"राम नाम सत्य है, सबको यही गति है।"

इसके अतिरिक्त, जहाँ कहीं भी 'राम-राम' का प्रयोग होता है, वहाँ कुछ न कुछ घटत या बढ़त अवश्य होती है लेकिन अभी उस दिशा में नहीं जाते हैं।

आज क्षेम बाबू की पत्नी का मृत्यु का तीसरा दिन था। छाउरझँप्पी का अर्थ है, मृत शरीर के अग्नि संस्कार के बाद मिट्टी में माटि का ढेर बनाकर उसमें तुलसी का पौधा रोप देना।

मन ही मन क्षेम बाबू इस सत्य को स्वीकार कर रहे थे कि यही जीवन है। कोई हँसता हुआ दुनिया में आता है और रोता हुआ चला जाता है तथा कोई रोते हुए आता है और कबीर की तरह हँसते हुए चला जाता है।

क्या अबतक हम भ्रम में थे? क्या हमने कभी मृत्यु के बारे में गंभीरता से विचार नहीं किया और पूरी ज़िंदगी सिर्फ जीवन के पीछे भागते रहे और अंत में मिला क्या? यह समझ ही नहीं पाए।

जब सिकंदर जैसा महत्वाकांक्षी व्यक्ति, जिसने अनगिनत लोगों की हत्या की और असंख्य लोगों को गुलाम बनाया। जब मृत्यु का समय आया, तब उसने अपने सहयोगियों से कहा था-

"भाइयों! जब मुझे श्मशान ले जाना, तो मेरे दोनों हाथ बाहर निकाल देना, ताकि दुनिया देख सके कि सिकंदर भी खाली हाथ ही जा रहा है।”

क्षेम बाबू का परिवार वैसे तो बड़ा है। चारों बेटियाँ, दामाद, नाती-पोते और नातिनें सभी उपस्थित हैं। यहाँ 'उपस्थित' शब्द महत्वपूर्ण है। परिवार कैसे जुड़ता है और कैसे टूटता या बिखरता है? यह एक अलग प्रश्न है। ऐसा भी कई बार होता है कि जुड़ा हुआ परिवार टूट जाता है और टूटा हुआ फिर से जुड़ जाता है पर जो सच है, वह यह कि इस समय क्षेम बाबू अपने जीवन के विषय में, जीवन के अंतिम छोर पर बैठकर सोच रहे हैं।

वे यह विचार कर रहे हैं कि समाज में आज भी ऐसे लोग हैं जो अस्सी से पचासी वर्ष की आयु के बीच मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसलिए चाहे जितनी भी लंबी उम्र की कामना की जाए, अंततः मृत्यु इसी सीमा के भीतर निश्चित है। मरना तो सभी को है। यह बात केवल वे ही नहीं देख रहे हैं या मान रहे हैं बल्कि आप भी अपनी आँखों से इसे देखते हैं और मन से स्वीकार करते हैं।

पत्नी की मृत्यु और उनका दाह संस्कार क्षेम बाबू ने केवल अपनी आँखों से देखा ही नहीं बल्कि हाथ-पैर से बहुत कुछ किया भी है। इसलिए उनके मन में अब यह भ्रम बिल्कुल समाप्त हो चुका है कि वे स्वयं मृत्यु से अछूते रहेंगे। अबतक मन में यह धारणा बनी हुई थी कि जैसे शिक्षक बनकर स्कूल में पढ़ाते रहे हैं वैसे ही जीवन चलता रहेगा, पर वह भ्रम टूट चुका है। भ्रम टूटते ही मन में भय प्रवेश कर गया।

भय यह था कि पत्नी तो उनसे तीन वर्ष छोटी थीं, फिर भी वह पहले

क्यों चली गईं? इस असमंजस के साथ-साथ क्षेम बाबू की वह आशा भी डगमगाने लगी कि वे अस्सी-पचासी वर्ष की उम्र के बीच में ही मरेंगे। मन में बैठा डर सीने को थरथराने लगा। तभी, उसी समय, नातिन और नतिन-दामाद बाहर से आकर उनके चरणों को छूकर प्रणाम करने लगे।

अपने भीतर के टूटे हुए मन से क्षेम बाबू बोले-

"बेटा! दुनिया तो रंगमंच है। एक आता है, एक चला जाता है।"

एक घटना अपने साथ एक विशेष वातावरण और भावनात्मक माहौल भी ले आती है। जैसे ही क्षेम बाबू अपनी बात पूरी कह पाते, उससे पहले ही नातिन और नतिन-दामाद बिना कुछ कहे आँगन की ओर बढ़ गए। अबतक जो विचार क्षेम बाबू के मन में चल रहे थे, वे इस घटना के कारण, अर्थात उनके सामने आ जाने से, कुछ और दिशा लेने लगे।

संयोग ऐसा बना कि उसी समय सोम बाबू, अपने मन में जिज्ञासा लिए, क्षेम बाबू के पास पहुँच गए। जब क्षेम बाबू शिक्षक थे, तब सोम बाबू उन्हें 'मास्टर साहब' कहकर संबोधित करते थे परंतु सेवानिवृत्ति के बाद, जब सोम बाबू ने सामाजिक दृष्टिकोण से विचार किया, तो उन्हें यह अधिक उपयुक्त लगा कि एक ही स्थान पर रहने वाले व्यक्ति को 'चाचा' कहना अधिक समीचीन है। इसलिए अब वे उन्हें 'चाचा' कहने लगे हैं।

सोम बाबू ने बी. एस-सी. पास करने के बाद हाई स्कूल में शिक्षक के रूप में कार्य प्रारंभ किया। उनकी अपनी सोच और विशिष्ट समझ है। सोम बाबू का मन यह मानने को तैयार नहीं है कि व्यक्ति केवल अपने गुणों की ही गणना करता है और उन्हें ही बुनता है, जबकि अपने अवगुणों को वह अनदेखा करता है। उनके अनुसार, अवगुण भी गिने और बुने जाते हैं।

उदास मुख से सोम बाबू बोले-

"चाचा! आज के कार्यों से निवृत्त होने में कोई बाधा तो नहीं है?"

जैसे क्षेम बाबू ने अपने जीवन में समाज की रीति और व्यवहार को देखा और निभाया है, वैसे ही सोम बाबू ने भी अपने अनुभवों के सहारे सामाजिक दृष्टिकोण को समझा और जिया है। व्यक्ति की सोच और उसके

कर्म ही उसे उसकी गति और मति प्रदान करते हैं। यहाँ 'गति' शब्द को दोनों अर्थों में लिया जा सकता है, जीवन की दिशा और अंत की दशा।

एक ओर यदि आम जैसा फल देने वाला पेड़ लगाया जाए तो उससे आम जैसे ही फल प्राप्त होंगे और यदि किसी ने बड़ा फल देखकर कटहल या बरगद का वृक्ष लगाया, तो उसे वही मिलेगा।

सोमबाबू की अपनी सोच और उसपर आधारित समझ है और यही कारण है कि उनके कर्म अपेक्षाकृत संतुलित दिखाई देते हैं। उनकी यह सोच भी स्पष्ट है कि समाज में जब कोई विशेष घटना घटती है, तो लोग केवल औपचारिक जिज्ञासा व्यक्त करने ही न जाएँ। यदि किसी घटना से किसी व्यक्ति या परिवार के जीवन में अभाव उत्पन्न हो गया हो, तो सामाजिक भावना के तहत उसका कुछ अंश भरने का प्रयास भी होना चाहिए।

आज का जो सामाजिक परिवेश बनता जा रहा है, वह धीरे-धीरे एक ऐसे स्वरूप की ओर बढ़ रहा है जहाँ विदेशों में बसे बेटे और बहुएँ अपने मृत्युशय्या पर पड़े माता-पिता की सेवा मोबाइल फोन के माध्यम से ही करते हैं। जिज्ञासा से लेकर अंतिम क्रिया-कर्म तक अब इसी तकनीक के सहारे संपन्न हो जाते हैं। फिर भी, जो स्थिति जैसी होती है, उसे वहाँ के लोग अपने विवेक और सामर्थ्य के अनुसार स्वीकार कर ही लेते हैं।

सोम बाबू की सोच और कर्म ऐसे नहीं हैं कि कोई घटना घटे और वे केवल सुनकर रह जाएँ। उन्हें जब किसी घटना की जानकारी मिलती है, तो वे स्वयं घटनास्थल पर पहुँचते हैं, वहाँ की परिस्थिति का अवलोकन करते हैं और जैसी स्थिति हो, उसी के अनुरूप निर्णय लेते हैं। वे समय के बीतने को केवल एक सामान्य घटना नहीं मानते।

यहाँ 'बीतने' के दो अर्थ हैं- पहला अर्थ है- किसी घटना का घटित होकर समाप्त हो जाना। दूसरा अर्थ है- उसका अनुभव करना यानी उस घटना से प्रभावित होना। सोम बाबू के अनुसार, केवल सुन लेना पर्याप्त नहीं होता। किसी घटना से जुड़े रहकर उसे देखना, समझना और उससे सीख लेना ही वास्तव में जीना है।

जब उन्हें अपने गुरु, क्षेम बाबू की पत्नी के निधन का समाचार मिला, तो उन्होंने विद्यालय में अपने उत्तरदायित्व को एक अन्य शिक्षक को सौंपा और सीधे क्षेम बाबू के घर पहुँच गए। वे दाह संस्कार की समाप्ति के बाद ही लौटे। इस पूरी अवधि में उन्होंने न तो किसी प्रकार की शारीरिक थकावट महसूस की, न ही मानसिक उदासी को अपने ऊपर हावी होने दिया।

हमारे समाज में मृत्यु के बाद पहली रात को 'जागरण की रात' माना जाता है। आज यह परंपरा केवल परिवार के बीच सिमट कर रह गई है पर पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। यह परंपरा तबतक बनी रहेगी जबतक समाज में सहभागिता की भावना जीवित रहेगी। क्षेम बाबू की मानसिक स्थिति और थकान को समझते हुए सोम बाबू ने उस रात जागरण में भाग नहीं लिया। उन्होंने समझ लिया था कि इस समय मौन सहानुभूति अधिक आवश्यक है।

दाह संस्कार के बाद पहला विधिक संस्कार 'छाउरझँप्पी' कहलाता है। इस संस्कार में सामान्यतः वही लोग भाग लेते हैं, जो दाह संस्कार में उपस्थित नहीं थे। मिथिला की विशेषता यही है कि यहाँ न तो परंपराएँ पूरी तरह एकरूप हैं, न ही पूरी तरह विविध। उदाहरण के लिए, कुछ लोग शव का दहन चंदन की लकड़ी से करते हैं, कुछ आम की लकड़ी से, तो कुछ बबुल या इमली की लकड़ी से भी।

कहीं शव को बहती नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है, तो कहीं बिना जलाए उसे भूमिगत कर दिया जाता है। ऐसी विविध विधियाँ और परंपराएँ ही तो हमारे सांस्कृतिक विमर्श का हिस्सा हैं। इसी उलझन के कारण ‘गंगा योजना’ जैसी सरकारी योजनाएँ भी अनेक विचारों में उलझ जाती हैं। वास्तव में उद्धार का प्रश्न केवल मृत्यु के बाद नहीं उठता, यह तो जीवन रहते ही विचार करने योग्य विषय है। गंगा जीवन के इस पार भी मार्गदर्शक है और उस पार भी।

सोम बाबू को जिज्ञासु और पिपासु देखकर क्षेम बाबू के भीतर भी एक गहरी जिज्ञासा जाग उठी। उन्हें अपने शिक्षक जीवन के वे दिन याद आ गए जब विद्यालय में प्रार्थनाओं को ‘विनय’ कहा जाता था। उस समय

अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ प्रचलन में थीं परन्तु परंपरा के अनुसार उन्हें विनय नाम से ही पुकारा जाता था। सोमनाथ को उस समय एक साधक के रूप में नहीं देखकर, विनय के समय ही क्षेम बाबू ने एक बार उसके गाल पर दो थप्पड़ जड़ दिए थे। आज वही दृश्य उनके मन में अनायास उभर आया। गुरु और शिष्य के संबंधों से जुड़े प्रश्न उनके भीतर सिर उठाने लगे।

जबतक क्षेमबाबू शिक्षक रहे, तब की जीवन पद्धति और आज, सेवानिवृत्ति के बाद की जीवन शैली में अंतर आ चुका है। यह परिवर्तन हर जीवन में किसी न किसी रूप में आता है। पचहत्तर वर्ष की आयु में पहुँचकर क्षेम बाबू की सोच का स्वर भी बदल गया है और उसके साथ उनके कर्म की दिशा में भी परिवर्तन आ गया है। उन्होंने मन ही मन यह स्वीकार कर लिया है कि विनय के समय सोमनाथ के गाल पर लगाए गए वे दो थप्पड़ अनुचित थे। उस समय का परिवेश ऐसा था कि वह व्यवहार उन्हें उचित लगा था लेकिन आज के दृष्टिकोण से वे उस घटना को अनुचित मानते हैं। उन्हें अब यह समझ में आ गया है कि गलती से मुक्ति का एकमात्र मार्ग पश्चाताप ही है।

क्षेमबाबू बोले-

"बच्चा सोम! तुम अब हाई स्कूल के शिक्षक हो और मेरे पढ़ाए हुए विद्यार्थी भी। एक विचार उस समय कहने से रह गया था, जिसे आज व्यक्त करना चाहता हूँ। अब मैं भी जीवन की यात्रा में आगे बढ़ चुका हूँ, इसलिए यदि आज न कहा तो वह बात मेरे साथ ही समाप्त हो जाएगी।"

निर्दोष भाव से सोम बाबू बोले-

"चाचा! कल की आशा आज से कम रखना ही अच्छा होता है। इसलिए जो कहना है, कृपया अभी कह दीजिए।"

मिडिल स्कूल वह स्थान है जहाँ बच्चे को 'अ-आ' से लेकर सातवीं तक का ज्ञान और अनुशासन मिलता है। वहीं से सोमनाथ के व्यक्तित्व की नींव पड़ी और आज वह स्वयं एक शिक्षक बन गया है। इसे एक प्रकार की वंशगत वैचारिक धारा भी कहा जा सकता है। यदि वंश के भीतर किसी

पीढ़ी में वैचारिक या आचार संबंधी कोई कड़ी छूट जाए, तो उसे जोड़ना आवश्यक होता है।

हालाँकि क्षेम बाबू के मन में यह शंका भी उठ रही थी कि कहीं ऐसा न हो कि कोई चुभने वाला प्रसंग दोहरा देने से वे स्वयं अपने ही मन को अधिक चुभा लें परन्तु उसी क्षण उनके भीतर शिक्षक का वह स्वरूप जाग गया जो किसी भी आत्मसंवाद या शिखर वार्ता में प्रकट होता है।

उन्होंने आत्मविश्वास के साथ कहा-

"सोम! अब तुम हर दृष्टि से परिपक्व हो चुके हो लेकिन मेरे मन में आज भी तुम वही बच्चा हो। जैसे महाभारत के युग को बीते युग बीत चुके हों परन्तु अभिमन्यु आज भी वही उत्साही युवक प्रतीत होता है जिसने चक्रव्यूह के सातों द्वार तोड़े थे।"

सोम बाबू अपने मिडिल स्कूल के जीवन को स्मरण करते हुए मन ही मन यह सोचने लगे कि जो विचारों का प्रवाह आज क्षेम चाचा के भीतर दिखाई दे रहा है, वह उस समय नहीं था जब वे स्वयं विद्यार्थी थे और चाचा शिक्षक। एक तो स्वाभाविक रूप से सोमनाथ विज्ञान विषय के शिक्षक हैं और दूसरा यह संयोग रहा कि गाँव के पास ही स्थित विद्यालय की व्यवस्था होने के कारण उन्होंने घर में रहते हुए ही बी. एस-सी. तक की शिक्षा प्राप्त कर ली।

आज जिस प्रकार वे अपने परिवार के बीच रहते हुए विद्यालय में अध्यापन कर रहे हैं, उसी प्रकार उन्होंने समाज और परिवार के बीच अपने भीतर एक ऐसा व्यक्तित्व गढ़ लिया है जो मानवीय मूल्यों से समृद्ध है और समाज में एक आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है।

जब सोम बाबू ने देखा कि क्षेम बाबू के मन में विचारों की लहरें निरंतर उठ रही हैं, तो उन्होंने मन ही मन यह अनुमान लगाया कि चाचा अब संभवतः भवसागर के अंतिम किनारे पर आ पहुँचे हैं। यही कारण है कि उनके मन में केवल लहरें ही नहीं बल्कि गहरा भाव-प्रवाह भी उठ रहा है। ऐसे में उन्होंने सोचा कि बेहतर होगा चाचा को पुनः उस जड़ तक ले जाया

जाए जहाँ तात्त्विक बोध उत्पन्न होता है। वहीं से यह स्पष्ट दृष्टि प्राप्त होती है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर सत्य भी है और आभासी भी, और यह पूरी तरह देखने वाले की दृष्टि और समझ पर निर्भर करता है।

सोम बाबू बोले-

“चाचा! आपने यह तो बताया ही नहीं कि आपने दो थप्पड़ क्यों मारे थे, फिर प्रायश्चित किस बात का करेंगे?”

सोमनाथ के इस सहज किंतु विचारपूर्ण प्रश्न को सुनकर क्षेम बाबू एक क्षण के लिए चौंक पड़े। चौंकते ही उनके मन में यह विचार उठा कि केवल संसार को देखते-देखते स्वयं ही संसार से मिट जाना कोई समाधान नहीं है। इस संसार में जितने लोग हैं, उतनी ही विविध ‘अपनी-अपनी दुनिया’ भी है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों से गढ़ता है। जब कोई व्यक्ति अपने भीतर उस दुनिया को रचने लगता है, तब ही वह उसमें सार्थक जीवन जी पाता है। अन्यथा यह तो केवल ‘ठग-ठकग की दुनिया’ बनकर रह जाती है, जैसी कि लोकगीतों में कहा जाता है – “ठग-ठग की दुनिया में ठग-ठग का मेला लगा है।”

इसी भाव-प्रवाह में क्षेम बाबू ने कहा-

“सोम! विनय के समय मैंने तुम्हें मारा था। आज मैं तुम्हें ‘विनय’ शब्द का सही अर्थ समझाना चाहता हूँ। तुम स्वयं शिक्षक हो, पढ़ाते हो और अपने व्यवहार तथा क्रिया-कलापों में इस शब्द का प्रयोग भी करता होगा।”

क्षेम बाबू की बात सुनकर सोम बाबू मन ही मन ‘विनय’ शब्द का अर्थ टटोलने लगे। दुनिया में हर व्यक्ति कुछ न कुछ सोचता और विचार करता ही है। अपने विचारों को मन में समेटते हुए सोम बाबू ने स्वयं को संयत किया और बोले- “चाचा! अभी किस्से-कहानियों को छोड़ दीजिए, बस 'विनय' शब्द का व्यावहारिक दर्शन करा दीजिए।”

सोमनाथ की यह उतावली देखकर क्षेम बाबू मुस्कराए और बोले-

“बेटा सोम! पहले यह समझो कि जब किसी मनुष्य के मन में प्रायश्चित का भाव, अर्थात निर्मल और सच्चा विचार उत्पन्न होता है, तभी

उसके भीतर की पहली ग्रंथि खुलती है।”

विज्ञान के शिक्षक होने के कारण 'ग्रंथि' शब्द सुनते ही सोम बाबू का मन और भी अधिक स्थिर हो गया। उनके भीतर वही जिज्ञासा जाग उठी, जैसी किसी तीव्र पिपासु साधक में होती है। विचार के इस मधुर रस को पाकर जैसे मन सौम्यता से भर जाता है, वैसे ही सोम बाबू के चेहरे पर आई मुस्कान को देखकर क्षेम बाबू भीतर से आश्वस्त हो गए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे आषाढ़ की पहली वर्षा की बूँद धरती पर गिरकर बीज को अमृत दे देती है और जीवन की आशा से उसे आलोकित कर देती है। सोम की स्थिति भी कुछ वैसी ही लग रही थी।

क्षेम बाबू ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा-

“बेटा सोम! पहले प्रायश्चित को समझो। प्राचीन भाषा में प्रयुक्त 'प्रायश्चित' और आज के प्रयोग में आए 'प्रायश्चित' में काफी अंतर आ गया है। इसलिए इसे केवल मनोविश्लेषण नहीं, आत्मविश्लेषण की कसौटी पर भी कसना आवश्यक है लेकिन इस पर हम बाद में बात करेंगे, अभी हम 'विनय' की चर्चा कर रहे हैं।”

क्षेम बाबू को विचारों में गहराई से डूबा देखकर सोम बाबू के मन में एक नई अनुभूति जागी। जैसे स्वाति नक्षत्र की बूँद किसी पात्र में गिरकर उसे अमृतमय कर देती है, वैसे ही इस संवाद से उनके भीतर एक चेतना प्रवाहित होने लगी। वे बोले-

“चाचा! आज आप केवल समाज के बीच ‘चाचा’ नहीं हैं। आप वही शिक्षक हैं, जो पहले डाँटते हैं, फिर उसी हाथ से रसपान कराते हैं।”

जिस प्रकार किसी सौभाग्यशाली को योग्य गुरु मिल जाने पर सही बोध और ज्ञान की प्राप्ति होती है, वैसी ही अनुभूति सोम बाबू को हो रही थी। क्षेम बाबू ने इस भाव को गहराई से पहचान लिया। वे बोले-

“बेटा! 'विनय' का अर्थ है, अहंकार की शून्यता। अबतक यही धारणा बनी हुई थी कि विनय केवल दूसरों के प्रति होता है।”

यह विचार सुनकर सोम बाबू ने अपने भीतर जमी कुछ धारणाओं

को मन ही मन शुद्ध किया। उस शुद्धि के साथ ही उनकी आँखों के पानी में शीतलता उतर आई। उन्होंने धीरे से पूछा-

"फिर?"

अभिभूत होकर क्षेम बाबू बोले-

"बेटा सोम! विनय मनुष्य अपने प्रति करता है।"

दो विचारों के बीच, अर्थात सोम बाबू के अपने विचार और गुरु के मुख से सुने गए विचार के मध्य, सोम बाबू को धार की दो विपरीत धाराओं जैसी दूरी दिखाई दी। उसी दूरी में स्वयं को खड़ा करते हुए वे बोले-

"वह कैसे?"

क्षेम बाबू ने उत्तर दिया-

"विनय सात प्रकार का होता है: ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चरित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, शरीर विनय और लोकोपचार विनय।"

वर्षा में भीगी चिड़िया जैसे सूर्य निकलते ही अपने पंख को झाड़ती है, वैसे ही सोम बाबू ने भी अपने विचारों की नमी को झाड़ दिया और आगे समझने के लिए तैयार हो गए परंतु उनके मुख से कोई शब्द नहीं निकला। यह बात क्षेम बाबू समझ गए। वे बोले-

"ज्ञान के प्रति गहन आस्था समर्पित करना ही ज्ञान विनय है। दृष्टिकोण को सरल, निष्कपट और अनेकांतमय बनाना दर्शन विनय है। पवित्र आचरण को जीवन में उतारना चरित्र विनय कहलाता है।"

बीच में सोम बाबू ने एक गहरी साँस ली, जिससे जैसे भीतर का भारीपन हल्का हो गया। उन्होंने पूछा-

"और?"

क्षेम बाबू ने आगे कहा-

"मन को अहंकार से शून्य कर अनुशासित रखना मन विनय है। उसी प्रकार वाणी में उद्दंडता न आने देना वचन विनय है। शरीर विनय का तात्पर्य है कि शरीर की जकड़न को मिटाया जाए और उसे संयमित रखा जाए।

सातवाँ और सबसे व्यापक विनय है लोकोपचार विनय जो सिखाता है कि आपसी स्नेह, सह-अस्तित्व और सहयोग के साथ मनुष्य जीवन को कैसे जिया जाए और आगे बढ़ाया जाए।”

यह कहकर क्षेम बाबू थोड़ी देर के लिए मौन हो गए। उधर सोम बाबू पूरे मनोयोग से सुनते रहे, जैसे उनकी आत्मा कान बन गई हो। कुछ क्षणों के बाद क्षेम बाबू फिर बोले-

“सोम! तुम मुझे क्षमा करो या न करो, पर मेरा मन मान चुका है कि मेरा प्रायश्चित पूरा हो गया है।” ❑

मनुष्य का मूल्य

☰

कॉलेज के छात्रावास से ललित बैग लेकर बस स्टैंड के लिए निकल पड़ा। भूगोल ऑनर्स का छात्र ललित मकर संक्रांति का महत्व समझता था, इसलिए तिला संक्रांति का पर्व मनाने के विचार से वह गाँव जा रहा था। छात्रावास से निकलते ही उसके मन में एक प्रश्न उभर आया- पर्व आखिर होता क्या है?

जब हम पावन अवसरों की आराधना करते हैं और फिर भी कुछ प्राप्त नहीं होता, तो उस पावनता का मूल्य क्या है और उस आराधना का फल क्या? अबतक ललित केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित था। इसलिए जैसे अनाज रखने से पहले माँ और बहनें मिट्टी की पात्र (कोठी) को लीपती-पोतती, झाड़ती-बुहारती हैं, वैसे ही ललित का मन भी पर्व मनाने के विचार से गाँव जाने की तैयारी में लग गया।

छात्रावास से निकलते ही ललित के मन में एक झटका-सा उठा, वैसा ही जैसा स्मृति ज्ञान और क्रियात्मक ज्ञान से आगे बढ़कर विश्लेषणात्मक ज्ञान की सीमा पर पहुँचने पर होता है।

नया गाँव हो, नए लोग हों या नई दुनिया, हर परिस्थिति में मन में हजारों-लाखों रंगों के विचार जागते हैं। वैसे ही ललित के भीतर भी विचारों की हलचल होने लगी। बाल-मन में जैसे बाल सूर्य उदित होता है, वैसा ही भाव उसके भीतर उमड़ आया।

दुनिया तो दुनिया है, यहाँ हर वस्तु की भरमार है परन्तु इनमें से अपने जीवन का अर्थ प्रत्येक को स्वयं ही खोजना होता है।

अचानक ललित को ध्यान आया कि वह तिला संक्रांति का पर्व मनाने

गाँव जा रहा है। जब किसी उद्देश्य से कहीं जाया जाए तो वहाँ पहुँचने से पहले उसका स्मरण करना आवश्यक होता है। ललित के मन में यह विचार भी उठा कि हमारे यहाँ वसंत के सूर्य के उदय की सीमा पर पड़ने वाला पर्व ही मकर संक्रांति कहलाता है। अबतक शीत और पाले से दबा-कुचला सूर्य अब अपनी दिशा बदलने वाला है।

विचारों में ललित इतना डूब गया कि छात्रावास से बस स्टैंड तक का रास्ता कब कट गया, उसे पता ही नहीं चला।

बस स्टैंड पहुँचते ही उसका ध्यान वर्तमान पर आया। अपने गाँव की बस पकड़ने के विचार के स्थान पर अचानक एक नया विचार मन में कौंध गया और मार्ग में पर्व से जुड़े विचार पीछे छूट गए।

इसी बीच एक जोरदार शोर सुनाई पड़ा। शोर यह था कि एक आदमी बस के पहिए के नीचे दबकर मर गया है।

मौत की खबर सुनते ही ललित के मन में बेचैनी उठने लगी। उसने सोचा कि जब वह यहाँ उपस्थित है और पास में ही किसी की मृत्यु हुई है, तो उस स्थान पर न जाना मानवीय मूल्य के विरुद्ध होगा। वहाँ जाना उसका नैतिक कर्तव्य है।

अपनी बस का टिकट कटवाने का विचार छोड़कर वह उस स्थान की ओर चल पड़ा जहाँ दुर्घटना हुई थी।

रास्ते में लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे। कोई कह रहा था कि बस वाले ने जानबूझकर चढ़ा दिया, क्योंकि दो भाइयों के बीच दियादी झगड़ा था। कोई कह रहा था कि वह सरकारी मुआवजा पाने के लिए स्वयं ही पहिए के नीचे चला गया।

कोई और कह रहा था-

"बीच सड़क पर चलने से ऐसा हुआ।”

जैसे प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने-अपने विचारों की कतार होती है, अर्थात अपने चलने का मार्ग होता है, वैसे ही ललित के पास भी था।

रास्ते में सुनी गई बातों ने ललित के मन को इतना उलझा दिया कि वह यह भी भूल गया कि इस समय वह कहाँ जा रहा है।

अचानक उसे याद आया कि उसे गाँव जाना है और कल तिला संक्रांति का पर्व है। वह फिर से गाँव जाने वाली बस के अड्डे की ओर बढ़ गया।

आवागमन की सुविधा के कारण जीवन में इतना तो बदला है कि रास्ते कुछ आसान हो गए हैं, अर्थात कहीं आना-जाना अब सहज हो गया है।

बस के पास पहुँचते ही ललित के मन में यह विचार उठा कि मकर संक्रांति के सूर्य के उदय के पहले दिन से जैसे-जैसे तिल-तिल करके सूर्य आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे ठंड और पाले में भी कमी आती जाती है। साथ ही सूर्य की शक्ति में भी धीरे-धीरे वृद्धि होती जाती है।

जब कभी किसी को कोई नई वस्तु मिलती है, चाहे वह भावात्मक हो या भौतिक, तब मन में कहीं न कहीं प्रसन्नता का संचार अवश्य होता है।

उसी प्रसन्नता की खोज में तो दुनिया व्याकुल रहती है। यह बात अलग है कि स्थायी प्रसन्नता प्राप्त करना ही वास्तव में मूल्यवान होता है। अस्थायी तो अस्थायी ही होती है किंतु इसी बीच मनुष्य स्वयं को पागलखाने की ओर ढकेलता चला जा रहा है।

इसी का परिणाम है कि समाज की स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि कृषि जीवन जैसा पवित्र जीवन, जो जीवन का मूल आधार है, वही मिटता चला जा रहा है।

यहाँ यह समझने की आवश्यकता नहीं समझी जाती कि स्वतंत्र जीवन जीने के लिए कृषक जीवन ही सबसे उपयुक्त है।

भाई! हम सभी जानते हैं कि शक्कर या मिश्री में जो कीड़े पैदा होते हैं, यदि उन्हें मिर्च के बीच डाल दिया जाए तो वे मर जाते हैं, क्योंकि मिर्च की तीखापन वे सह नहीं पाते। यह स्वाभाविक है परन्तु क्या मिर्च में उत्पन्न जीव शक्कर या मिश्री के बीच जीवित रह सकता है? वह भी नहीं रह

सकता। वह भी मर ही जाएगा।

अब बताइए, किसे स्वाभाविक कहा जाए और किसे अस्वाभाविक?

जैसे जेष्ठ महीने में वर्षा होने पर किसान का मन जाग उठता है, वैसे ही जीव-जंतु, पेड़-पौधे और मिट्टी के भीतर दबे अन्नकण अर्थात बीज बन चुका अन्न, सब कुछ जाग उठता है और अंकुरित होने लगता है।

ठीक उसी प्रकार ललित के मन में भी विचारों की वर्षा होने लगी और नए-नए अनेक विचार जाग उठे।

जिस तिला संक्रांति के पर्व को मनाने वह गाँव जा रहा है, वहाँ के लोगों को यदि कोई संदेश न दे तो वे उसे पहचानेंगे कैसे?

कोई किसी को यूँ ही नहीं पहचानता, पहचान तभी बनती है जब कोई कार्य किया जाता है।

परिवेश ऐसा बन गया है कि जैसे जंगलों के बाघ और सिंह लुप्त हो गए, गाँव-घरों के हाथी भी लुप्त हो गए, वैसे ही अलार्म घड़ी हो या दीवार घड़ी, जेब घड़ी हो या हाथ की घड़ी, सब लुप्त होती जा रही हैं।

जो थोड़ी बहुत बची हैं, लगता है वे भी कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाएँगी।

अचानक ललित के साथ उसके विचारों की दिशा भी बदल गई। भूगोल का विद्यार्थी होने के कारण ललित को भूगोल के प्रोफेसर कुशल किशोर बाबू से विशेष स्नेह था।

भाई! स्नेह से ही तो संदेश प्रवाहित होता है।

मोबाइल से समय का अनुमान लगाकर ललित ने विचार किया कि चार घंटे बाद जो बस है, उसी से गाँव चला जाएगा।

बीच का जो समय है, उसमें कुशल किशोर बाबू से मिल लेना आवश्यक है। वही तो मकर संक्रांति के सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायण की जानकारी रखने वाले व्यक्ति हैं।

तिला संक्रांति को सूर्य के तिल-तिल करके उत्तर दिशा की ओर बढ़ने

का प्रतीक माना गया है। यह सोचकर ललित घूमकर वापस चल पड़ा।

कुशल किशोर बाबू भूगोल के प्रमाणित शिक्षक हैं।

इसलिए जैसे उन्हें स्वयं पर विश्वास है, वैसे ही अपने अध्ययन विषय, अर्थात भूगोल पर भी उन्हें पूर्ण विश्वास है।

उन्हें संसार की भौगोलिक संरचना का विशेष ज्ञान है यद्यपि उन्होंने संसार के अनेक देशों की यात्रा की है, फिर भी उनकी जड़ें अपने गाँव, घर और देश की मिट्टी में ही गड़ी हुई हैं।

कुशल किशोर बाबू अपने कमरे में बैठे मन ही मन यह विचार कर रहे थे कि जिस पदचिह्न के आधार पर लोगों की गति और गतिविधियाँ निर्धारित होती हैं, उसी से नए पदचिह्न स्थापित किए जाएँ।

परिवार से लेकर समाज तक खींच-तान तो है ही, फिर भी वे संतुलन बनाए रखते हुए अपने दृष्टिकोण से सब कुछ देख और समझ रहे थे।

इसी कारण कई बार लोगों से उनकी टकराहट भी हो जाती थी। यह कहना भी उचित नहीं कि मतभेद नहीं होते, मतभेद तो होते ही हैं।

पिछले सूर्यग्रहण के समय भी ऐसा ही हुआ था।

ग्रहण के बाद कुछ लोग ग्रहण-दान लेकर उनके पास आए।

कुशल किशोर बाबू इस बात को लेकर पूरी तरह आश्वस्त थे कि सूर्य की गति कैसी है, पृथ्वी की गति कैसी है और इनके बीच ग्रहण की स्थिति कैसे बनती है?

इसमें किसी व्यक्ति की भूमिका क्या है और ग्रहण-दान का क्या अर्थ है?

इन्हीं बातों के कारण गाँव के लोगों से उनकी काफी कहा-सुनी हुई और समाज की दृष्टि में वे एक विचित्र व्यक्ति सिद्ध हो गए।

गाँव और समाज तो गाँव-समाज ही है।

बहुत से लोगों ने तरह-तरह की बातें कीं, जिससे कुशल किशोर बाबू मानसिक रूप से अत्यधिक थक गए और उनका विचित्रपन और बढ़ता

चला गया।

छह महीने बाद उन्हें राँची के काँके अस्पताल में भर्ती कराया गया।

तीन महीने के अस्पताल-जीवन में कुशल किशोर बाबू ने एक प्रकार की एकांत साधना कर ली।

इससे वे एकाग्रता के ऐसे स्तर पर पहुँच गए जहाँ वे अपने जीवन को अपनी मुट्ठी में लेकर जीने लगे।

इधर ललित एक तो विचारों के झंझावात से घिरा हुआ था, ऊपर से पैदल ही बस स्टैंड से किशोर बाबू के घर तक का रास्ता तय कर चुका था। इसी कारण उसके चेहरे की लालिमा में हल्का सा नीलापन आ गया था।

संयोग ऐसा हुआ कि कुशल किशोर बाबू कमरे से निकलकर बारामदे पर आए और उनकी दृष्टि ललित पर पड़ गई। उन्होंने देखा कि कंधे पर बैग लटकाए ललित कहीं जा रहा है, फिर भी यहाँ आने की आवश्यकता उसे क्यों महसूस हुई? सहसा उनके मन में यह विचार उठा कि किसी की जिज्ञासा को शांत करना सबसे बड़ा उपकार होता है।

बारामदे से नीचे उतरकर कुशल किशोर बाबू आगे बढ़े, तभी ललित भी आगे बढ़ता हुआ पास पहुँच गया। हाँफते हुए ललित ने कहा-

"गाँव जा रहा था। रास्ते में एक विचार मन में उठ गया, इसलिए पहले आपके यहाँ चला आया हूँ।"

ललित प्रणाम करना भूल गया परन्तु इससे कुशल किशोर बाबू के मन में तनिक भी कटुता नहीं आई। कटुता हो भी क्यों, वे मानते थे कि पदचिह्नों का भी अपना मूल्य होता है। कुशल किशोर बाबू बोले-

"पहले कंधे पर लटकाए बैग को उतार लो।"

मेज पर बैग रखकर ललित ने लंबी साँस ली। यह साँस रास्ते की थकान से भारी हुई थी या विचारों के विकार ने भीतर से ऊपर चढ़कर उसे बोझिल बना दिया था, यह तो ललित ही जानता था परन्तु कुशल किशोर बाबू का अपना जीवनानुभव था, अपनी सोच थी और उसी के अनुरूप

उनका व्यवहार भी था। वे भलीभाँति जानते थे कि जैसे कबीर ने कहा है कि दो पाटों के बीच कुछ भी शेष नहीं रहता, वैसे ही वेद एक स्थान पर कहते हैं कि ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या है तथा दूसरे स्थान पर यह भी कहते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यही संसार की जड़ में स्थित रिक्तता है और इस रिक्तता को भर देना सहज नहीं है।

ललित इतनी बेसुध अवस्था में आ चुका था कि कंधे पर लटके बैग से उसका ध्यान हट गया था परन्तु कुशल किशोर बाबू की आवाज सुनते ही उसने बैग मेज पर रख दिया। बैग रखते ही ललित के शरीर की शक्ति में वृद्धि हुई और उसकी साँसों की गति भी शांत होने लगी। ललित की साँसों को सामान्य होते देखकर कुशल किशोर बाबू बोले-

"इतनी परेशानी में क्यों हो? ललित!"

ललित ने उत्तर दिया-

"क्या कहूँ? गुरुदेव! जब से गाँव जाने के लिए छात्रावास से कदम बढ़ाया है, तब से अशुभ पर अशुभ घटित हो रहा है, जिससे मन व्याकुल हो उठा है।"

अटपटा कहें या असंगत, ललित की बात सुनकर कुशल किशोर बाबू ने वैसे ही मधुरता अपने स्वर में उतार ली, जैसे मधुमेह के रोगी के लिए साधारण मिठास भी नमकविहीन हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि करेला भी मीठा हो जाता है परन्तु स्वाद की अनुभूति अवश्य बदल जाती है। उसी भाव में वे बोले-

"ललित! दुनिया के झंझट भरे विचारों को छोड़ो। कबतक जड़ों में उलझे रहोगे कि पहले अंडा हुआ या बच्चा! पहले झूठ जन्मा या सत्य। इन उलझनों में व्यर्थ मत फँसो। देख ही रहे हो कि प्रकृति का खेल कैसा है? किसी को छिपा-छिपाकर बेटा-बेटी देती है कि ऑपरेशन कराना पड़ता है, और किसी को सात बार गर्भ ठहरने के बाद भी कुछ नहीं होता।"

कुशल किशोर बाबू की बात ने ललित के मन को भीतर तक छू लिया। प्रभावित होकर ललित बोला- "गुरुदेव! साल भर से ऊपर हो गया है गाँव

गए हुए। कल तिला संक्रांति का पर्व है। अचानक मन में विचार उठा कि गाँव चला जाऊँ।"

बीच में बात काटते हुए कुशल किशोर बाबू बोले-

"इसे शुभ विचार ही नहीं, शुभ कर्म भी कहा जा सकता है।"

यह बड़प्पन था या तात्त्विक सच्चाई, जो ललित के भीतर जाग उठी, यह तो ललित ही समझ सकता था। संतुष्ट स्वर में उसने कहा-

"गुरुदेव! जब बस स्टैंड पर था, तभी मन में आया कि पर्व के अवसर पर गाँव जा रहा हूँ, तो गाँव-समाज को कुछ संदेश भी दे आऊँ।"

कुशल किशोर बाबू मन ही मन ललित को परख रहे थे कि उसके विचार किस दिशा में बह रहे हैं। उसका मूल्यांकन करते हुए वे बोले-

"गाँव-घर की बातों को तुम अभी ठीक से नहीं समझ पाए हो, इसलिए मन में इतनी बेचैनी है। बेवजह पुरानी और जमी हुई भ्रांतियों में उलझे हुए हो।"

'पुरानी भ्रांति' का अर्थ था लंबे समय से चली आ रही निरर्थक धारणाएँ। ललित ने पूछा-

"वह कैसे? गुरुदेव!"

ललित की जिज्ञासा देखकर कुशल किशोर बाबू बोले-

"ललित! इस समय न तुम्हारे पास अधिक बातचीत का अवसर है और न मेरे पास। इसलिए अभी मन को शांत करो, पहले गाँव जाओ। पर्व मनाकर जब लौटोगे, तब इन बातों पर फिर विस्तार से विचार करेंगे।"

मन में धैर्य बाँधते हुए ललित बोला-

"तो फिर समाज को संदेश क्या दूँ?"

अपने मन के विचार ललित ने वैसे ही व्यक्त किए, जैसे समाज के बीच रहने वाले बहुत से लोग करते हैं, जो भीतर से यह महसूस करते हैं कि समाज को कुछ न कुछ संदेश दिया जाना चाहिए परन्तु उसके लिए रोजमर्रा के रिश्तों की जरूरत पड़ती है। अथाह सागर की ऊपरी सतह के जल जैसी

गंभीरता के साथ कुशल किशोर बाबू बोले-

"ललित! समाज तुम्हारे संदेश के लिए भूखा है। इतने दिनों तक माँ और दादी तिल और चावल को पानी में भिगोकर गुड़ के साथ मिलाती थीं और उसी से बच्चों को पर्व का संदेश देती थीं। अब तो लोग तिलकुट दुकान से खरीदकर लाते हैं।"

ललित का मन भी मान रहा था कि गुरुदेव ठीक ही कह रहे हैं। सिर हिलाते हुए उसने कहा- "हाँ, यह तो दिख ही रहा है।"

ललित को सिर झुकाए देखकर कुशल किशोर बाबू बोले-

"जैसे हो वैसे ही गाँव जाओ, पर्व मनाओ और लौट आओ। उसके बाद इत्मीनान से कुछ विचार साझा करना।"

अबतक जो विचार ललित के मन को घेरे हुए थे, वे कुछ हल्के पड़ गए थे परन्तु कुशल किशोर बाबू के मुख से "कुछ विचार साझा करना" सुनते ही एक नया विचार उसके मन में उभर आया और अनायास ही उसके मुँह से निकल गया- "वह क्या?"

एक ओर समय की कमी थी और दूसरी ओर विचारों की गहराई। दोनों के बीच संतुलन बनाते हुए कुशल किशोर बाबू बोले-

"ललित! हमारे यहाँ के पर्वों में गहरे भौगोलिक विचार निहित हैं, पर वह बात बाद में करेंगे। अभी पहले अस्थिर मन से गाँव जाओ और पर्व मनाकर लौट आओ।"

❑❑❑

❑❑

❑

Notes